अध्यात्म रत्नत्रय

समयसार गाथा ३२०, प्रवचनसार गाथा ११४

एवं समयसार कलश २७१ पर

आध्यात्मिक सत्पुरुष पू. कानजी स्वामी के

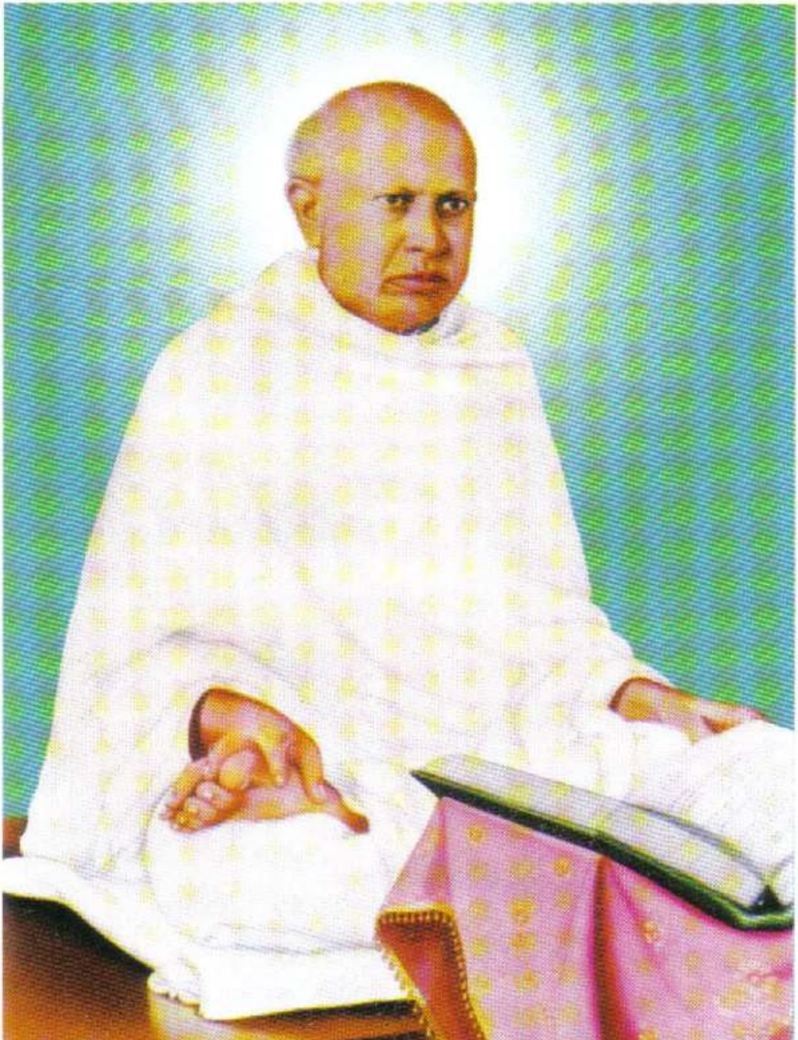

પરમ પૂજ્ય અધ્યાત્મમૂર્તિ સદ્‌ગુરુદેવ શ્રી કાનજીસ્વામી

[टोडरमल ग्रंथमाला का ७३वां पुष्प]

अध्यात्म रत्नत्रय

समयसार गाथा ३२०, प्रवचनसार गाथा ११४
एवं समयसार कलश २७१ पर
आध्यात्मिक सत्पुरुष कानजीस्वामी के
प्रवचन

अनुवादक :
पण्डित राजकुमार जैन, शास्त्री
मौ (भिण्ड) म. प्र.

सम्पादक :
पण्डित अभयकुमार जैन
शास्त्री, जैन दर्शनाचार्य, एम. काम.
जयपुर

प्रकाशक :
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर–३०२०१५

हिन्दी

प्रथमावृत्ति : ५२०० [विजयादशमी : १२ अक्टूबर, १९८६]
(पण्डित बाबूभाई मेहता स्मृति सभागृह
के उद्घाटन के अवसर पर)

गुजराती : २०००

मूल्य : **पाँच रुपये**

विषय-सूची

	पृष्ठ संख्या
(१) **समयसार गाथा ३२०** (जयसेनाचार्यकृत टीकापर प्रवचन)	१ से १३३
(२) **समयसार गाथा ३२०** (अमृतचन्द्राचार्यकृत टीकापर प्रवचन)	१३५ से १४९
(३) **समयसार गाथा ११४** (अमृतचन्द्राचार्यकृत टीकापर प्रवचन)	१५१ से १९२
(४) **समयसार गाथा २७१** (पाण्डे राजमलजीकृत टीकापर प्रवचन)	१९३ से २१२

मुद्रक :
कपूर आर्ट प्रिन्टर्स
मनिहारों का रास्ता,
जयपुर

प्रकाशकीय

वीतरागमार्ग प्रभावक आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य श्री कानजीस्वामी के श्री समयसार गाथा ३२० की जयसेनाचार्य एवं अमृतचन्द्राचार्यकृत टीका-पर, प्रवचनसार गाथा ११४ की अमृतचन्द्राचार्यकृत टीकापर एवं समयसार कलश २७१ पर पांडे राजमलजी की टीकापर हुए प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद "अध्यात्म रत्नत्रय" के रूप में पाठकों के कर-कमलों में प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

पूज्य श्री कानजी स्वामी इस युग में परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्द आदि दिगम्बर संतों एवं आत्मज्ञानी विद्वानों द्वारा लिपिबद्ध जिनवाणी के सरलतम व्याख्याकार तथा आत्मानुभवी महापुरुष हो गये हैं। उनके अंतर्मुखी पुरुषार्थप्रेरक प्रवचनों ने लाखों लोगों को मुक्तिमार्ग का स्वरूप समझने का जिज्ञासा एवं उसपर चलने की प्रेरणा प्रदान की है। उनके द्वारा प्रारंभ आध्यात्मिक क्रान्ति के फलस्वरूप जनसाधारण में भी जिनागम का अध्ययन करने की रुचि, उसे समझने की क्षमता एवं जीवन में उतारने की प्रेरणा प्रस्फुटित हुई है। पूज्य गुरुदेव श्री ने समयसार एवं प्रवचनसार पर अनेक बार प्रवचन किए हैं। श्री समयसार की ३२०वीं गाथा की जयसेनाचार्यकृत टीका में परमपारिणामिक भाव की महिमा का विशेष वर्णन किया गया है, तथा अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका में चक्षु के उदाहरण से कर्त्ता-कर्म सम्बन्धी अज्ञान को दूर किया गया है। प्रवचनसार की ११४वीं गाथा में दोनों नयों से आत्मा का स्वरूप स्पष्ट किया है। इसीप्रकार समयसार के २७१वें कलश में ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्धी भ्रान्ति को दूर किया गया है। ये सभी विषय आत्महित में अत्यन्त उपयोगी होने से माननीय पं. लालचन्द भाई की भावनानुसार श्री कुन्दकुन्द-कहान परमागम प्रवचन प्रकाशन ट्रस्ट, बम्बई द्वारा दो वर्ष पूर्व गुजराती में प्रकाशित किये गये थे।

इन प्रवचनों का लाभ हिन्दीभाषी अध्यात्मरसिक पाठक भी लें, इस भावना से श्रीमान् शान्तीभाई जवेरी, बम्बईवालों ने पं. राजकुमारजी

शास्त्री, मौ वालों से इनका हिन्दी अनुवाद करने का आग्रह किया, जिसे स्वीकार करके उन्होंने अल्प समय में ही उनका शब्दशः अनुवाद कर दिया।

विद्वद्वर्य माननीय श्री लालचन्दभाई ने इसके प्रकाशन के संबंध में जब मुझसे चर्चा की तो पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट की ओर से इसके प्रकाशन का निर्णय किया गया तथा पंडित अभयकुमारजी शास्त्री से इसका सम्पादन करने का अनुरोध किया, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार करके हिन्दी भाषा के प्रवाह एवं पूज्य गुरुदेवश्री के गम्भीर भावों तथा रसोत्पादक शैली का ध्यान रखते हुए यह कार्य सम्पन्न कर दिया।

इस संकलन में दो गाथायें एवं एक कलश – इसप्रकार तीन प्रकरणों पर प्रवचन होने से इसका नाम गुजराती में "अध्यात्म प्रवचन-रत्नत्रय" रखा गया है, तथापि संक्षिप्त नाम उच्चारण में सरल होने से तथा शीघ्र प्रचलित होने से हिन्दी में इसका नाम "अध्यात्म रत्नत्रय" रखा गया है।

हिन्दीभाषी समाज अधिक से अधिक संख्या में इन प्रवचनों का लाभ ले – इस पवित्र भावना से श्रीमान् शांतीभाई जवेरी, बम्बईवालों की ओर से इसका विक्रयमूल्य लागतमूल्य से लगभग आधा कर दिया गया है। एतदर्थ वे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

तीर्थंकर भगवंतों एव दिगम्बर संतों का जितना उपकार माना जाय, उतना ही कम है। इन प्रवचनों द्वारा जिनवाणी का रहस्य खोलकर पूज्य कानजी स्वामी ने हम सब पर अनन्त उपकार किया है। इन प्रवचनों के गुजराती संकलन में श्री रमणलाल माणिकलाल शाह, रखियालवालों का भी विशेष योगदान रहा है, एतदर्थ मैं उनका तथा अनुवादक एवं सम्पादक महोदय का हार्दिक आभारी हूँ।

मुद्रण व्यवस्था में श्री अखिल बंसल ने तथा मुद्रण कार्य में श्री कपूरचद जंन कपूर आर्ट प्रिन्टर्सवालों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है, अतः वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

इन प्रवचनों का मर्म समझकर सभी जन शुद्धात्मस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान एवं लीनता प्रगट करें – यही मगल भावना है।

– नेमीचन्द पाटनी
मन्त्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

सम्पादकीय

परमपूज्य तीर्थंकरों एवं दिगम्बर संतों द्वारा बताये गये मुक्तिमार्ग की सरल एवं सरस व्याख्या करके पूज्य श्री कानजी स्वामी ने हम सब पर अनन्त उपकार किया है। यद्यपि वे आज हमारे बीच नहीं हैं, तथापि उनके प्रवचनों की अमूल्य निधि टेपों एवं पुस्तकाकार रूप में हमारे बीच उपलब्ध हैं। उनके अधिकांश प्रवचन गुजराती भाषा में हुए हैं, अतः हिन्दी भाषा में उनके अनुवाद एवं प्रकाशन अत्यन्त आवश्यक हैं, ताकि हिन्दी-भाषी धर्मप्रेमी समाज भी उन प्रवचनों के माध्यम से जिनागम का मर्म समझ कर आत्मकल्याण कर सके।

पूज्य गुरुदेवश्री के गुजराती में हुए प्रवचनों को अनुवादित एवं सम्पादित करके हिन्दीभाषी पाठकों तक पहुँचाने का काम महान सौभाग्य एवं गौरवपूर्ण होते हुए भी अत्यन्त उत्तरदायित्वपूर्ण है, क्योंकि किसी एक भाषा का दूसरी भाषा में अनुवाद करते समय अनेक बातों को ध्यान में रखना पड़ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों को टेपों से शीघ्रलिपिक (स्टेनो) द्वारा गुजराती में लिखा जाता है, तदनन्तर गुजराती भाषा में ही उन प्रवचनों को व्यवस्थित करके प्रकाशित किया जाता है। गुजराती में प्रकाशित प्रवचनों के अक्षरशः अनुवाद को भी हिन्दीभाषा के प्रवाह की दृष्टि से सम्पादित करना आवश्यक हो जाता है, ताकि पूरी बात स्पष्टरूप से पाठकों तक पहुँच सके।

प्रस्तुत कृति में संकलित प्रवचनों का गुजराती से हिन्दी में अनुवाद करने का सौभाग्य शास्त्री कक्षा में मेरे सहपाठी पं. राजकुमारजी शास्त्री मौ वालों को प्राप्त हुआ है। आदरणीय श्री नेमीचंदजी पाटनी ने मुझे इस के सम्पादन का अवसर प्रदान किया, एतदर्थ मैं उनका आभारी हूँ।

सम्पादन के संदर्भ में विद्वद्वर्य माननीय श्री लालचंदभाई से अनेक प्रकार के मार्गदर्शन प्राप्त हुए हैं। उनकी यह विशेष भावना थी कि गुरुदेवश्री के प्रवचनों में चाहे जितनी भी पुनरावृत्ति हो, परन्तु कोई भी अंश हटाया न जाय। मात्र हिन्दीभाषा के प्रवाह एवं सम्प्रेषणीयता को ध्यान में रखते हुए वाक्यों के गठन में आवश्यक परिवर्तन किए जाएँ, ताकि हिन्दीभाषी लोग सरलतापूर्वक गुरुदेवश्री का अभिप्राय समझ सकें।

इस संदर्भ में पं राजकुमार शास्त्री ने भी अपनी भावना व्यक्त करते हुए कहा कि पूज्य गुरुदेवश्री की शैली की टोन कायम रखी जाय तो अच्छा है, ताकि पढ़ते समय पाठकों को ऐसा लगे कि हम साक्षात् गुरुदेवश्री का ही प्रवचन सुन रहे हैं।

मैंने उक्त दोनों महानुभावों के अभिप्राय का पूरा-पूरा ध्यान रखते हुए यह कार्य सम्पन्न किया है तथा इस बात का विशेष ध्यान रखा है कि गुरुदेवश्री की शैली की सरलता, सहजता, करुणा एवं आल्हाद आदि विशेषताओं को कायम रखते हुए भी भाषा प्रवाहपूर्ण हो, वाक्य सरल एवं पूरे हों, तथा कर्ता-कर्म, क्रिया आदि का प्रयोग नियमानुसार हो, ताकि भविष्य में सैकड़ों वर्षों तक भी पाठकगण इन प्रवचनों को पढ़कर गुरुदेवश्री के भावों को यथार्थरूप से समझ सकें।

अतः यह कार्य सम्पन्न करते हुए निम्न तथ्यों पर विशेष ध्यान दिया गया है।

(१) गुरुदेवश्री के प्रवचनों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि उनमें विषय प्रदिपादन के साथ-साथ अध्यात्मरस से उत्पन्न आल्हाद एवं अज्ञान से दुःखी प्राणियों के प्रति करुणा का झरना भी झरता था। उक्त दोनों परस्पर विरुद्ध भावों की अभिव्यक्ति वे प्रायः 'अहाहा..........!' शब्द द्वारा किया करते थे, जिसे उनके स्वरों के उतार-चढ़ाव के द्वारा श्रोताजन सरलता से समझ लेते थे। स्वरों के उतार-चढ़ाव को लिपिबद्ध नहीं किया जा सकता, अतः शुद्धात्मतत्त्व की महिमा जैसे आल्हादोत्पादक स्थलों में ही 'अहाहा.........!' शब्द का प्रयोग किया गया है।

(२) सम्बोधन एवं महिमापरक शब्दों का यदि हर वाक्य में प्रयोग हो तो भाषा के प्रवाह में व्यवधान उत्पन्न होता है, अतः आवश्यक स्थलों पर ही इसप्रकार के शब्दों का प्रयोग किया गया है।

(३) कहीं-कहीं कोई वाक्य तथा उदाहरण अधूरे भी रह गये हैं, जिन्हें संदर्भ के अनुसार पूरा किया गया है।

उदाहरणार्थ – "देखो – एक राजा की रानी झरोखे में रहती थी, एक बार रानी साहब झरोखे में से बाहर निकलीं, तो उनको देखने के लिए लोगों के टोले के टोले उमड़ पड़े, ऐसे यहाँ कहते हैं – यह भगवान आत्मा अनादि काल से राग और पर्यायबुद्धि के ओझल में पड़ा है, इसे देखने के लिए एकबार अन्तर्मुख होकर प्रयत्न तो कर।" इस अंश को निम्नानुसार व्यवस्थित किया गया है :—

देखो – जैसे राजा की रानी पर्दे में रहती है और लोग उसे देखने के लिए उत्सुकता से उमड़ पड़ते हैं, वैसे भगवान आत्मा अनादि काल से पर्यायबुद्धि और राग के पर्दे में ढका है। तू उसे देखने की उत्सुकता से अन्तर्मुख होकर प्रयत्न तो कर।

(४) कहीं-कहीं अधूरे वाक्य प्रयोग के कारण अभिप्राय स्पष्ट नहीं हो पाता, अतः उन वाक्यों को पूरा करके अभिप्राय स्पष्ट किया गया है। जैसे – "अहाहा! क्या ज्ञान का निरावलंबी स्वभाव।" इस वाक्य को "अहाहा! ज्ञान के निरावलंबी स्वभाव की महिमा का क्या कहना।" इस-प्रकार व्यवस्थित किया गया है।

(५) कहीं-कहीं विशेषणों का विशेष्य के साथ में प्रयोग न होने से वाक्य अटपटा लगता है, अतः विशेषणों को विशेष्य के साथ रखा गया है, जैसे – "जयसेनाचार्य महामुनिराज दिगम्बर संत की यह टीका है" – इस वाक्य को – "महा मुनिराज दिगम्बर संत जयसेनाचार्य की यह टीका है" इस रूप में प्रस्तुत किया गया है।

(६) इसीप्रकार कर्ता-कर्म के अव्यवस्थित प्रयोग को भी सुधारा गया है, जैसे उदाहरणार्थ – "जिनागम का मर्म खोलकर अहो! आचार्य देव ने महान उपहार किया है।" इस वाक्य को "अहो! आचार्यदेव ने जिनागम का मर्म खोलकर महान उपहार किया है।" इस रूप में प्रस्तुत किया गया है।

(७) "क्या कहा?" "लो ऐसी बात" जैसे सम्बोधन शब्दों को भी मात्र आवश्यकतानुसार ही रखा गया है।

(८) बार-बार पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग भी प्रवाह में व्यवधान उत्पन्न करता है, अतः ऐसे शब्दों को भी आवश्यकतानुसार ही स्थान दिया गया है।

इस कार्य में तत्त्व-प्रचार में योगदान के साथ-साथ आत्महित का भी विशेष अवसर प्राप्त हुआ जिसे, मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ। ऐसे अवसर बार-बार मिलते रहें यही मेरी भावना है।

पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी का मर्म युगों-युगों तक भव्य जीव प्राप्त करते रहें – इसी भावना से मैंने यह कार्य किया है। यदि पाठकगण पूज्य गुरुदेवश्री के भावों एवं शैली से परिचित हो सके तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा।

– अभयकुमार जैन शास्त्री
एम. काम, जैनदर्शनाचार्य

यह राग-आग दहै सदा, तातैं समामृत सेइते।
चिर भजे विषय-कषाय अब तो, त्याग निज-पद बेइये॥
कहा रच्यौ पर-पद में न तेरा, पद यहै क्यों दुख सहै।
अब दोल ! होउ सुखी स्व-पद रचि, दाव मत चूको यहै॥

– पण्डित दौलतराम : छहढाला, छठवीं ढाल

अध्यात्म रत्नत्रय

समयसार गाथा ३२० : तात्पर्यवृत्ति टीका

मूल गाथा एवं संस्कृत छाया

दिट्ठी सयं पि णाणं[1] अकारयं तह अवेदयं चेव ।
जाणदि य बंधमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव ॥

दृष्टिः यथैव ज्ञानमकारकं तथाऽवेदकं चैव ।
जानाति च बँधमोक्षं कर्मोदयं निर्जरा चैव ॥३२०॥

जयसेनाचार्य कृत संस्कृत टीका एवं उसका हिन्दी अनुवाद

तमेव अकर्तृत्वभोक्तृत्वाभावं विशेषेण समर्थयति; [दिट्ठी सयं पि णाणं अकारयं तह अवेदय चेव] यथा दृष्टिः

ज्यों नेत्र त्यों ही ज्ञान; नहिं कारक नहीं वेदक अहो ।
जाने हि कर्मोदय निरजरा, बन्ध त्यों ही मोक्ष को ॥३२०॥

गाथार्थ : (जह एव दिट्ठी) जैसे नेत्र दृश्य पदार्थ को देखता है लेकिन पदार्थ का कर्त्ता भोक्ता नहीं है, (तह) उसी प्रकार, (णाणंसयंपि) ज्ञान स्वयं भी, (अकारयं) अकारक, (अवेदय च एवं) तथा अवेदक है, (य) और, (बंधमोक्खं) बंधमोक्ष, (कम्मुदयं) कर्मोदय, (णिज्जरं च) तथा निर्जरा को, (जाणदि एव) जानता ही है ।

अब इसी कर्तृत्व व भोक्तृत्व के अभाव का दृष्टान्त-पूर्वक समर्थन करते हैं –

टीका – (दिट्ठी सयंपि णाणंयं अकार तह अवेदयं चैव) जैसे चक्षु अग्निरूप दृश्य को देखता है किन्तु जलाने वाले

---

१. आत्मख्याति टीका में "दिट्ठी जहेव णाणं" पाठ है, तदनुसार संस्कृत छाया व गाथार्थ दिया गया है ।

कर्त्री दृश्यमग्निरूपं वस्तुसंधुक्षणं पुरुषवन्न करोति तथैव च तप्तायः पिडवदनुभवरूपेण न वेदयति तथा शुद्धज्ञानमप्यभेदेन शुद्धज्ञानपरिणत जीवो वा स्वयं शुद्धोपादानरूपेण न करोति न च वेदयति। अथवा पाठान्तरं [दिट्ठी खयंपि णाणं] तस्य व्याख्यानं – न केवलं दृष्टिः क्षायिकज्ञानमपि निश्चयेन कर्मणामकारकं तथैवावेदकमपि। तथाभूतः सन् किं करोति? [जाणदि य बन्धमोक्खं] जानाति च। कौ? बन्धमोक्षौ न केवलं बन्धमोक्षौ [कम्मुदयं णिज्जरंचेव] शुभाशुभरूपं कर्मोदयं सविपाकाविपाकरूपेण सकामाकामरूपेण वा द्विधा निर्जरां चैव जानाति इति।

एवं सर्वविशुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धोपादानभूतेन शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन कर्तृत्व-भोक्तृत्व-बन्ध-मोक्षा-

---

पुरुष के समान वह उसे जलाता नहीं है, तथा तप्तायमान लौहपिण्ड के समान वह उसे अनुभवरूप से वेदता (भोक्ता) भी नहीं है, वैसे शुद्ध ज्ञान भी अथवा अभेद विवक्षा से शुद्धज्ञान में परिणत हुआ जीव भी शुद्ध उपादान रूप से, (अन्य द्रव्यों को) न करता ही है और न वेदता ही है, (अनुभवता ही है) अथवा पाठान्तर से, (**दिट्ठी खयंपि णाणं**) केवल दृष्टि ही नहीं किन्तु क्षायिक ज्ञान भी निश्चय से कर्मों का अकारक है और अभोक्ता है। ऐसा होता हुआ वह क्या करता है? (**जाणदि य बंध मोक्खं**) बंध और मोक्ष को जानता है। केवल बंध और मोक्ष को ही नहीं किन्तु (**कम्मुदयं णिज्जरं चैव**) शुभाशुभ रूप कर्म के उदय को तथा सविपाक, अविपाक रूप अथवा सकाम और अकाम रूप से होने वाली दो प्रकार की निर्जरा को भी जानता है।

इस प्रकार शुद्ध पारिणामिकभाव ग्राहक, शुद्ध उपादानभूत शुद्ध द्रव्यार्थिक-नय के द्वारा यह जीव कर्तापन

विकारणपरिणामशून्यो जीव इति सूचितं। समुदायपातनिकायाँ पश्चाद्गाथाचतुष्टयेन जीवस्याकर्तृत्वगुणव्याख्यानमुख्यत्वेन सामान्यविवरणं कृतं। पुनरपि गाथाचतुष्टयेन शुद्धस्यापि यत्प्रकृतिभिर्बन्धो भवति तदज्ञानस्य माहात्म्यमित्यज्ञान-सामर्थ्यकथनरूपेण विशेषनिवरणं कृतं। पुनश्च गाथाचतुष्टयेन जीवस्याभोक्तृत्वगुणव्याख्यानमुख्यत्वेन व्याख्यानं कृतं। तदनन्तरं शुद्धनिश्चयेन तस्यैव कर्तृत्वबन्धमोक्षादिककारणपरिणामवर्जन-रूपस्य द्वादशगाथाव्याख्यानस्योपसंहाररूपेण गाथाद्वयं गतं ॥

इति समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ मोक्षाधिकारसम्बन्धिनी चूलिका समाप्ता अथवा द्वितीयव्याख्यानेनात्र मोक्षाधिकार समाप्तः।

भोक्तापन तथा बन्ध, मोक्षादि के कारण और परिणाम से रहित है – ऐसा सूचित किया है।

इस प्रकार समुदाय पातनिका में पीछे की चार गाथाओं द्वारा जीव के अकर्तापन गुण के व्याख्यान की मुख्यता से सामान्य वर्णन किया है। फिर चार गाथाओं में यह बताया है कि निश्चय से शुद्ध जीव को भी जो कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है वह अज्ञान का माहात्म्य है – इस प्रकार अज्ञान की सामर्थ्य का विशेष रूप से वर्णन किया है। फिर चार गाथाओं में जीव के अभोक्तापन के व्याख्यान की मुख्यता से कथन किया है। तत्पश्चात् शुद्धनिश्चय-नय से कर्तापन, बन्ध मोक्षादि का कारण और परिणाम की निषेधरूप बारह गाथाओं का उपसंहार दो गाथाओं में हुआ है।

इस प्रकार श्री जयसेनाचार्य कृत शुद्धात्मानुभूति लक्षणवाली तात्पर्यवृत्ति नाम की श्री समयसारजी की व्याख्या के हिन्दी अनुवाद में मोक्षाधिकार सम्बन्धी यह चूलिका समाप्त हुई, अथवा द्वितीय व्याख्यान से मोक्ष अधिकार समाप्त हुआ।

किं च विशेष – औपशमिकादिपंचभावानां मध्ये केन भावेन मोक्षो भवतीति विचार्यते। तत्रौपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकौदयिकभावचतुष्टयं पर्यायरूपं भवति, शुद्धपारिणामिकस्तु द्रव्यरूप इति। तच्च परस्परसापेक्षं द्रव्यपर्यायद्वयमात्मा पदार्थो भण्यते।

तत्र तावज्जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्वत्रिविधपारिणामिकभावमध्ये शुद्धजीवत्वं शक्तिलक्षणं यत्पारिणामिकत्वं तच्छुद्धद्रव्यार्थिकनयाश्रितत्वान्निरावरणं शुद्धपारिणामिकभावसंज्ञं ज्ञातव्यं तत्तु बन्धमोक्षपर्यायपरिणतिरहितं। यत्पुनर्दशप्राणरूपं जीवत्वं भव्याभव्यत्वद्वयं तत्पर्यायार्थिकनयाश्रितत्वादशुद्धपारिणामिकभावसंज्ञमिति।

अब यहाँ पर विचार किया जाता है कि जीव के औपशमिक आदि पाँच भावों में से किस भाव के द्वारा मोक्ष होता है ? सो वहाँ औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और औदयिक ऐसे चार भाव तो पर्यायरूप हैं और एक शुद्ध पारिणामिक भाव द्रव्यरूप है। वह परस्पर सापेक्ष द्रव्य-पर्याय द्वयरूप आत्मा पदार्थ है।

वहाँ जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व तीन प्रकार का पारिणामिक भाव है। उसमें भी शक्ति लक्षण शुद्ध जीवत्व पारिणामिक भाव है, वही शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के आश्रित होने से निरावरण शुद्ध पारिणमिक भाव है नाम जिसका 'ऐसा जानना चाहिए जो कि बन्ध और मोक्षरूप पर्याय की परिणाति से रहित है और दश प्राण रूप जीवत्व और भव्यत्व अभव्यत्वद्वय ये सब पर्यायार्थिक नय के आश्रित होने से अशुद्ध पारिणामिक नामवाले है।'

यहाँ प्रश्न होता है कि ये तीनों अशुद्ध पारिणामिक क्यों है ? इसका उत्तर यह है कि दश प्राणरूप जीवत्व, भव्यत्व

कथमशुद्धमिति चेत्, संसारिणां शुद्धनयेन सिद्धानां तु सर्वथैव दशप्राणरूप जीवत्वभव्याभव्यत्व द्वयाभावादिति[1]।

तत्र त्रयस्य मध्ये भव्यत्वलक्षण पारिणामिकस्तु यथासंभवं सम्यक्त्वादिजीवगुणघातकं देशघातिसर्वघातिसंज्ञं मोहादिकर्मसामान्यं पर्यायार्थिकनयेन प्रच्छादकं भवति इति विज्ञेयं। तत्र च यदा कालादिलब्धिवशेन भव्यत्वशक्तिर्व्यक्तिर्भवति तदायं जीवः सहजशुद्धपारिणामिकभावलक्षणनिजपरमात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणपर्यायरूपेण परिणमति। तच्च परिणमनमागमभाषयौपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकं भावत्रयं भण्यते। अध्यात्मभाषया पुनः शुद्धात्माभिमुखपरिणामः शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसंज्ञां लभते।

और अभव्यत्व इन तीनों का सिद्धों में तो सर्वथा अभाव है, किन्तु संसारी जीवों में भी शुद्ध निश्चयनय से इनका अभाव होने से ये अशुद्ध हैं।

वहाँ इन तीनों में से भव्यत्व लक्षण वाले पारिणामिक भाव का तो पर्यायार्थिक नय से यथा-सम्भव सम्यक्त्वादि जीव गुणों का घातक, देशघाती और सर्वघाती संज्ञावाला मोहादि कर्म-सामान्य प्रच्छादक है – ऐसा समझना चाहिए। वहाँ जब काल आदि लब्धियों के वश से भव्यत्व शक्ति की अभिव्यक्ति होती है तब यह जीव सहज शुद्ध पारिणामिक भाव लक्षण निज परमात्म-द्रव्य के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान और आचरण पर्याय रूप में परिणमन करता है, उसी परिणमन को आगम भाषा में औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भाव इन तीनों नामों से कहा जाता है तथा उसे अध्यात्म भाषा में शुद्ध आत्माभिमुख परिणाम, शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायरूप संज्ञा दी जाती है।

---

१. "द्वयाभावादिति" के स्थान पर "त्रयाभावादिति" होना चाहिए।

स च पर्यायः शुद्धपारिणामिकभावलक्षणशुद्धात्मद्रव्यात्कथंचिद्भिन्नः । कस्मात् ? भावनारूपत्वात् । शुद्धपारिणामिकस्तु भावनारूपो न भवति । यद्येकान्तेन शुद्धपारिणामिकादभिन्नो भवति तदास्य भावनारूपस्य मोक्षकारणभूतस्य मोक्षप्रस्तावे विनाशे जाते सति शुद्धपारिणामिकभावस्यापि विनाशः प्राप्नोप्ति; न च तथा । ततःस्थितं – शुद्धपारिणामिकभावविषये या भावना तद्रूपं यदौपशमिकादिभावत्रयं तत्समस्तरागादिरहितत्वेन शुद्धोपादानकारणत्वात् मोक्षकारणं भवति, न च शुद्धपारिणामिकः । यस्तु शक्तिरूपो मोक्षः स शुद्धपारिणामिकपूर्वमेव तिष्ठति । अयं तु व्यक्तिरूपमोक्षविचारो वर्तते ।

वह शुद्धोपयोगरूप पर्याय शुद्ध पारिणामिक भाव लक्षण शुद्धात्म द्रव्य से कथंचित् भिन्न है, क्योंकि वह भावनारूप है; किन्तु शुद्ध पारिणामिकभाव भावनारूप नहीं है । यदि इस भावनारूप परिणाम को एकान्तरूप से शुद्ध पारिणामिकभाव से अभिन्न ही मान लिया जाए तो मोक्ष की कारणभूत भावना रूप परिणाम का तो मोक्ष हो जाने पर नाश हो जाता है, तब उसके नाश हो जाने पर शुद्ध पारिणामिकभाव का भी नाश हो जाना चाहिए, सो ऐसा है नहीं, इसलिये यह निश्चित है कि शुद्ध पारिणामिक भाव के विषय में भावनारूप जो औपशमादिक तीन भाव हैं वे समस्त रागादिक विकारभावों से रहित होने से शुद्ध उपादान कारणरूप हैं इसलिये मोक्ष के कारण होते हैं, किन्तु शुद्ध पारिणामिकभाव मोक्ष का कारण नहीं है । हाँ, जो शक्तिरूप मोक्ष है वह तो शुद्ध पारिणामिकरूप पहले से ही प्रवर्तमान है किन्तु यहाँ पर तो व्यक्तिरूप मोक्ष का विचार चल रहा है । ऐसा ही सिद्धान्त में लिखा है कि 'निष्क्रियः शुद्ध पारिणामिकः' अर्थात् शुद्ध पारिणामिक भाव तो निष्क्रिय होता है ।

तथा चोक्तं सिद्धान्ते – 'निष्क्रियः शुद्धपारिणामिकः' निष्क्रिय इति कोऽर्थः ? बन्धकारणभूता या क्रिया रागादिपरिणतिः तद्रूपो न भवति, मोक्षकारणभूता च क्रिया शुद्धभावनापरिणतिस्तद्रूपश्च न भवति । ततो ज्ञायते शुद्धपारिणामिकभावो ध्येयरूपो भवति ध्यानरूपो न भवति । कस्मात् ? ध्यानस्य विनश्वरत्वात् तथा योगीन्द्रदेवैरप्युक्तं –

णवि उपज्जइ णवि मरइ बंध ण मोक्खु करेइ ।
जिउ परमत्थे जोइया जिणवर एउ भणेइ ।।

किंच विवक्षितैकदेशशुद्धनयाश्रितेयं भावना निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणक्षायोपशमिकज्ञानत्वेन यद्यप्येकदेशव्यक्तिरूपा भवति तथापि ध्यातापुरुषः यदेव सकलनिरावरणमखंडैक-

---

प्रश्न – निष्क्रिय का क्या अर्थ है ?

उत्तर – रागादिमय परिणतिवाली बन्ध की कारणभूत क्रिया रूप नहीं होना तथा मोक्ष की कारणभूत शुद्ध भावनारूप परिणति रूप भी नहीं होना । इससे यह जाना जाता है कि शुद्ध पारिणामिक भाव ध्येयरूप है परन्तु ध्यानरूप नहीं है क्योंकि ध्यान विनाशशील है । जैसा कि योगीन्द्रदेव ने भी अपने परमात्मप्रकाश में लिखा है :–

हे योगी ! परमार्थ से, जन्मे मरे न जीव ।
बन्ध-मोक्ष करता नहीं, जिनवर कहें सदीव ।।

अर्थात्–हे योगी ! सुन, परमार्थ दृष्टि से देखने पर यह जीव न तो उपजता है, न मरता है, न बन्ध ही करता है, न मोक्ष ही प्राप्त करता है – ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान कहते हैं ।

और विशेष कहते हैं कि विवक्षित एक देश शुद्धनय के आश्रित होने वाली यह भावना निर्विकार स्वसंवेदन लक्षण क्षायोपशमिक ज्ञानरूप होने के कारण यद्यपि एक देश व्यक्ति

प्रत्यक्षप्रतिभासमयमविनश्वरं शुद्धपारिणामिकपरमभावलक्षणं निजपरमात्मद्रव्यं तदेवाहमिति भावयति, न च खंडज्ञानरूपमिति भावार्थः ।

इदं तु व्याख्यानं परस्परसापेक्षागमाध्यात्मनयद्वयाभिप्रायस्याविरोधेनैव कथितं सिद्ध्यतीति ज्ञातव्यं विवेकिभिः ॥३२०॥

रूप है, फिर भी ध्यान करने वाला पुरुष यही भावना करता है कि जो सकलनिरावरण अखण्ड, एक, प्रत्यक्ष प्रतिभासमय अविनश्वर और शुद्ध पारिणामिक लक्षण वाला निज परमात्म द्रव्य है, वही मैं हूँ अपितु खण्ड ज्ञानरूप में नहीं हूँ ।

विवेकी जनों को ऐसा जानना चाहिए कि यह व्याख्यान परस्पर सापेक्ष आगम और अध्यात्म दोनों नयों के अभिप्राय के अविरोध से कहा गया सिद्ध होता है ।

आद्यन्तमुक्तमनघं परमात्मतत्त्वं,
निर्द्वन्द्वमक्षय विशालवर प्रबोधम् ।
तद् भावनापरिणतो भुवि भव्यलोकः,
सिद्धि प्रयाति भवसम्भव दुःखदूराम् ॥

परमात्मतत्त्व आदि अन्त रहित है, दोष रहित है, निर्द्वन्द्व है और अक्षय विशाल उत्तम ज्ञान स्वरूप है । जगत में जो भव्य जन उसकी भावनारूप परिणत होते हैं, वे भवजनित दुःखजनित दुःखों से दूर ऐसी सिद्धि को प्राप्त करते हैं ।

नियमसार, शुद्धभाव अधिकार कलश-६८

पूज्य कानजी स्वामी के प्रवचन

भगवान आत्मा तो ज्ञानस्वभावी है। राग को करना या राग को भोगना आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा इन शरीरादि पर पदार्थों का तो करता है ही नहीं, पर रागादि का करना और रागादि का वेदना भी आत्मा के ज्ञानस्वभाव में नहीं है। इस गाथा में यह बात दृष्टान्त से समझाते हैं।

जिस प्रकार आँख दृश्यमान अग्निरूप वस्तु को देखती है, परन्तु संधुक्षण करने वाले (अग्नि को जलाने वाले) पुरुष के समान अग्नि को करती नहीं है। पुरुष अग्नि आदि दृश्यमान पदार्थों को करता है, परन्तु आँख दृश्यमान पदार्थों को मात्र देखती है, करती नहीं है। तथा तपे हुए लोहे के गर्म गोले की तरह आँख अग्नि को अनुभवरूप से नहीं वेदती। लोहे का गर्म गोला अग्नि को ऊष्णता को वेदता है परन्तु आँख ऊष्णता का वेदन नहीं करती। उसीप्रकार ज्ञायक स्वभावी आत्मा पुण्य-पापरूप भावों को करता और वेदता नहीं है। लोग दया पालते हैं, व्रतादि करते हैं, दान करते हैं, परन्तु भाई ! यह सब तो राग है। इस राग का करना और वेदना आत्मा के ज्ञानस्वभाव में नहीं है। अपना ऐसा स्वभाव जब तक दृष्टि में नहीं आता, तब तक यह जीव अज्ञानी रहता है।

आँख की तरह शुद्ध ज्ञान (अभेदनय से शुद्धज्ञानपरिणत जीव) भी स्वयं शुद्ध-उपादानरूप से राग को करता नहीं और वेदता भी नहीं। देखो, यहाँ शुद्ध ज्ञानरूप परिणमित जीव की बात है। शुद्धज्ञान अर्थात् गुण और शुद्धज्ञान परिणत जीव अर्थात् द्रव्य। मैं एक शुद्ध ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ – ऐसा जिसे अन्तर में शुद्धज्ञानमय परिणमन हुआ, वह जीव शुद्ध-उपादान रूप से दया, दान, व्रत आदि रागभाव को करता नहीं और

वेदता नहीं, क्योंकि आत्मा का शुद्ध-उपादान तो एक शुद्ध चैतन्यमय है।

यहाँ त्रिकाली ज्ञानगुण तथा शुद्ध ज्ञानरूप परिणमित जीव, इन दोनों को राग का अकर्त्ता और अवेदक कहा है।

बापू ! यह बाहर के सब काम में व्यवस्थित कर सकता हूँ – ऐसा मानने वाला जीव मिथ्यादृष्टि है। यहाँ कहते हैं कि स्वभावसन्मुख दृष्टि द्वारा शुद्धज्ञानरूप से परिणमित हुआ जीव, बाहर के काम करना तो दूर रहो, पुण्य और पापरूप भावों का भी कर्त्ता और भोक्ता नहीं हैं। अहाहा ! ज्ञान गुण भी ऐसा नहीं और शुद्ध ज्ञान परिणत जीव भी ऐसा नहीं है। यहाँ शुद्धज्ञान परिणत जीव द्रव्य क्यों कहा ? क्योंकि त्रिकाली शुद्धद्रव्य तो राग को करता भी नहीं और वेदता भो नहीं, ऐसा ही उसका स्वभाव है, परन्तु परिणमन शुद्ध हुए बिना राग का अकर्त्तापना और अवेदकपन सिद्ध कैसे होगा ? द्रव्य शुद्धज्ञानरूप से परिणमे तब वह राग को करता नहीं और वेदता नहीं – ऐसा सिद्ध होता है। यह तो सर्वज्ञ के घर की, अन्तर की बात है। ज्ञान-स्वभावी आत्मा मात्र ज्ञानरूप से ही परिणमित होता है। राग को करना और वेदना ज्ञानस्वभाव में है ही नहीं, परन्तु जब ज्ञान का अनुभव हो तभी वह समझ में आवे न ? शुद्धज्ञान परिणत जीव को ही ऐसा निर्णय होता है कि जीव राग का कर्त्ता और भोक्ता नहीं है।

भगवान आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु त्रिकाल शुद्ध और पवित्र है। उसे ध्येय बनाकर उसके लक्ष्य से जब पर्याय में शुद्ध परिणमन होता है, तब वह जीव राग का कर्त्ता और हर्ष-शोक का भोक्ता नहीं होता। शुद्धरूप से परिणमन हुए बिना द्रव्यस्वभाव राग का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है – ऐसा निर्णय किस प्रकार हो ? गुण और गुणी दोनों का शुद्ध ज्ञानमय परिणमन

हो तभी वह जीव व्यवहार के विकल्परूप शुभभावों का कर्त्ता और भोक्ता नहीं है – ऐसा यथार्थ निर्णय होता है। ज्ञानी को अशुभ राग भी आता है, पर वह उसका कर्त्ता-भोक्ता नहीं है।

धर्मी अर्थात् भगवान आत्मा का धर्म ज्ञान और आनन्द है। जिसकी पर्याय में ज्ञान और आनन्दरूप परिणमन हुआ वह जीव या उस जीव का ज्ञान दया, दान, व्रत, तप आदि के विकल्प का कर्त्ता और भोक्ता कभी नहीं होता। ऐसी सूक्ष्म बात है।

पाठान्तर – 'दिट्ठी खयं पि णाणं' मात्र दृष्टि ही नहीं परन्तु क्षायिक ज्ञान भी निश्चय से कर्मों का अकारक और अवेदक है। जैसे नेत्र पर का कर्त्ता या भोक्ता नहीं हैं वैसे ही क्षायिक ज्ञान या ज्ञानपरिणत जीव भी दया, दान आदि विकल्पों का कर्त्ता भोक्ता नहीं है।

देखो, पहले दो बोलों में दृष्टि का (द्रव्यदृष्टि का) जोर दिया है। अब यहाँ क्षायिक ज्ञान की बात करते हैं। जैसा शक्तिरूप से सर्वज्ञपना है, वैसा पर्याय में प्रगट होने वाले सर्वज्ञपने को क्षायिकज्ञान कहते हैं। वह क्षायिकज्ञान भी निश्चय से राग का अकारक तथा अवेदक है। अहा! सर्वज्ञ भगवान को योग का कम्पन है, परन्तु वे उसके भी अकारक और अवेदक हैं। 'क्षायिकज्ञान भी' – यहाँ 'भी' शब्द क्यों लिया? क्योंकि प्रथम दो बोलों में कहे गए शुद्धज्ञान और शुद्ध ज्ञान रूप परिणमित जीव के समान क्षायिकज्ञान भी निश्चय से कर्मों का अकारक तथा अवेदक है – ऐसा कहना है। यहाँ कर्म शब्द से राग-द्वेष आदि भाव-कर्म समझना चाहिए।

बहुत वर्ष पहले एक भाई ने प्रश्न किया था कि महाराज! सिद्धभगवान क्या करते हैं? इतने बड़े भगवान हैं तो वे जगत का कुछ न करें?

तब हमने उनसे कहा था कि भाई ! सिद्ध भगवान जगत का कुछ नहीं करते, वे तो अपने अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द को वेदते हैं। वे जगत के पदार्थों के अकर्त्ता और अभोक्ता हैं। अज्ञानी मानता है कि हम संसार में पाँच-पच्चीस लोगों का निर्वाह करते हैं, पर भाई ये तेरी मिथ्या मान्यता है, वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। तुझे बाह्य स्थूल दृष्टि में ऐसा लगता है कि हम पर का काम करते हैं, पर वास्तव में पर का कार्य कोई (आत्मा) कर सकता ही नहीं। आत्मा पर को छूता भी नहीं है, वह पर का क्या कर सकता है ? क्षायिकज्ञान पर का कुछ करे – ऐसा तो नहीं है, पर वह रागादि भाव-कर्मों का भी अकारक और अवेदक है।

इस प्रकार क्षायिकज्ञान की बात करके, अब फिर से शुद्धज्ञानपरिणत साधक जीव की बात करते हैं। जो अभी स्वयं सिद्ध नहीं हुआ, अभी जिसे केवलज्ञान नहीं हुआ – ऐसा शुद्धज्ञानपरिणत साधक जीव अवस्था में (पर्याय में) होने वाले राग-द्वेष को करता नहीं, मात्र जानता है।

सुबह के प्रवचन में आया था कि राग और पर से भिन्न त्रिलोकीनाथ भगवान हमने तुझे बताया तो तीन लोक में ऐसा कौन सा जीव होगा जिसे ज्ञान का परिणमन न हो ? समयसार गाथा ३१, ३२, ३३ में विकल्प से भिन्न चैतन्यघन प्रभु आत्मा बताया है। अहा ! उसे जानकर ऐसा कौन पुरुष है जिसे भेदज्ञान न हो ? (अर्थात् भेदज्ञान अवश्य होगा)

इस शास्त्र की पाँचवीं गाथा में भी आचार्यदेव ने कहा है कि – 'जदि दाएज्ज पमाणं' जो मैं शुद्धज्ञानघन एकत्व-विभक्त आत्मा को दिखाऊँ तो हे शिष्य ! तू प्रमाण करना। प्रमाण करना अर्थात् स्वाभिमुख होकर स्वानुभव करके प्रमाण करना "मैं तुझे दिखाऊँ तो" – आचार्यदेव के इस कथन से

सिद्ध होता हैं कि वहाँ शुद्धात्मा को देखने वाला, स्वानुभव से प्रमाण करने वाला पात्र शिष्य भी है। अहो ! ऐसी अद्‌भुत अलौकिक बात करके आचार्यदेव ने जगत को निहाल कर दिया है। अहा ! अन्तर में जहाँ खबर पड़ी कि मैं स्वयं महाप्रभु-चैतन्यमहाप्रभु आत्मा हूँ तो उसकी संभाल करके उसका अनुभव क्यों न करें ? अवश्य ही करें।

देखो, यहाँ भी स्वानुभवमण्डित शुद्धज्ञानपरिणत जीव की बात की है, अकेला सुनने वाला जीव नहीं लिया। यह शुद्धज्ञानपरिणत जीव क्या करता है ? जानता है। किसे ? बन्ध और मोक्ष को।

अहाहा ! अन्दर में चैतन्यमहाप्रभु शुद्धज्ञानप्रकाश का पुञ्ज आत्मा विद्यमान है। ऐसा आत्मा ज्ञानरूप से प्रकाशे कि राग में अटक कर राग को करे और राग को वेदे ? जो राग है, वह भावबन्ध है और जड़ कर्म-बन्ध का निमित्त है। यहाँ कहते हैं कि – ज्ञानपरिणत जीव राग और जड़ कर्म-बन्ध से दूर रहकर उन्हें पृथक्‌रूप से जानता है।

अभी ऐसी बात कहाँ है ? अरे ! लोगों ने तो अत्यन्त स्थूल मान लिया है कि वस्त्र सहित हो वह श्वेताम्बर और वस्त्ररहित हो वह दिगम्बर। परन्तु बापू ! दिगम्बर धर्म तो वस्तु का स्वरूप है। अन्दर में राग से नग्न – शून्य बिनमूरत चिनमूरत प्रभु आत्मा विराज रहा है, वह यथार्थ दिगम्बर स्वरूप है। जिसे ऐसे निज स्वरूप का भान हुआ है – ऐसा शुद्धज्ञान-परिणत धर्मी पुरुष पर्याय में होने वाले बन्ध को मात्र जानता ही है अर्थात् करता नहीं है।

जिस प्रकार ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा मात्र ज्ञान-प्रकाश का पुंज त्रिकाल अस्तिरूप हैं, उसी प्रकार रागादि बन्ध भी वर्तमान अस्तिरूप है। अवस्था में बन्ध है ही नहीं – ऐसा

नहीं हैं, परन्तु सम्यग्दृष्टि धर्मी जीव उस रागादि बन्ध भाव को दूर रहकर जानता है, वह उसे करे या उसे वेदे – ऐसा नहीं है।

राग में तन्मय होकर राग को करने और वेदनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि है। क्या कहा ? इन दया, दान, व्रत, तप आदि के शुभ विकल्पों को जीव करता है और वेदता है – ऐसा जिसने माना है उसकी तो दृष्टि ही मिथ्या है, क्योंकि उसे राग से अधिक (भिन्न) ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा का भान नहीं हुआ। वह तो राग में ही एकत्व करता है और राग में ही एकत्व करके उसे वेदता है – ऐसे जीव की यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो जिसके ज्ञान और प्रतीति में आया कि मैं राग से भिन्न पूर्णज्ञानघनस्वरूप भगवान आत्मा हूँ – ऐसे शुद्धज्ञानपरिणत जीव की बात है। अहाहा ! उसने ज्ञान के व्यक्त अंश में ऐसा जाना कि यह व्यक्तरूप ज्ञान तो अंश है, पर मेरी वस्तु तो अंदर ध्रुव परिपूर्ण है। ध्रुव में ध्रुव नहीं जाना जाता, पर ध्रुव के लक्ष्य से जो परिणमन हुआ उसमें ध्रुव जाना जाता है। अहा ! वह ज्ञान का अंश अवस्था में होने वाले राग और बंध को भी जानता है। ज्ञान जैसे स्व को जानता है, वैसे ही राग को भी जानता है।

भाई ! यह बात कठिन लगे पर सत्य बात तो यही है। आजकल तो यह बात सुनने को मिलना भी दुर्लभ है।

अहाहा ! भगवान आत्मा सदा ज्ञानस्वरुपी प्रज्ञाब्रह्म-स्वरूप है। जिसने उसका पूर्ण आश्रय किया उन सर्वज्ञ पर-मात्मा को एकसमय में तीन लोक और तीन काल का ज्ञान होता है। उनका शरीर नग्न होता है और उन्हें आहार-पानी नहीं होता। वे तो अतीन्द्रिय आनन्द के कर्त्ता-भोक्ता हैं। जिसे क्षायिकज्ञान प्रगट होता है, उसे परमात्मा कहते हैं। वे

सर्वज्ञ परमात्मा पूर्ण आनन्दमयी दशा के वेदन में रहते हैं। वे किसी का कुछ करें या किसी को कुछ दें – यह बात ही कहाँ रहती है ?

शंका : परन्तु भगवान करुणा करते हैं या नहीं ? भगवान करुणा-सागर तो कहलाते हैं ?

समाधान – नहीं, भगवान किसी की करुणा नहीं करते। भाई ! करुणा का भाव तो विकल्प (राग) है, और भगवान को करुणा का विकल्प नहीं होता।

भगवान की ओम् ध्वनि सुनकर अथवा भगवान के वीतरागस्वरूप को जानकर कोई भव्य जीव स्वय अपनी करुणा-दया करे और अपने हितरूप प्रवर्ते तो वह भगवान की करुणा-दया है – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। भगवान करुणासागर है – यह कथन व्यवहार का ही समझना चाहिए। भगवान तो क्या, निश्चय से कोई जीव किसी अन्य जीव की दया कर सके – ऐसी वस्तुस्थिति ही नहीं है। इसलिए तो प्रव नसार शास्त्र की गाथा ८५ में कहा है कि –

अयथार्थ ग्रहण पदार्थ का, करूणा मनुज तिर्यञ्च में।
अरु संग विषयों का कहा, ये चिन्ह जानो मोह के ॥

पदार्थों का अयथार्थग्रहण (अर्थात् पदार्थों का जैसा है वैसा सत्यस्वरूप न मानना, उसके विषय में अन्यथा समझना और तिर्यञ्च-मनुष्यों के प्रति करुणाभाव, तथा विषयों का संग (अर्थात् इष्ट विषयों के प्रति प्रीति और अनिष्ट विषयों के प्रति अप्रीति) ये मोह के लिंग - चिन्ह हैं। बापू ! यह तो मार्ग ही जुदा है। नाथ ! अपने को राग का कर्त्ता माननेवाला तो मिथ्यादृष्टि है ही, परन्तु जो भगवान को पर का और राग का करनेवाला और भोगनेवाला माने – वह भी मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ तो कहते हैं कि जिसकी अवस्था में किञ्चित् राग विद्यमान है ऐसा शुद्धज्ञान परिणत धर्मी जीव भी राग का अकर्ता तथा अवेदक है। सूक्ष्म बात है प्रभु ! शक्तिरूप में तो आत्मा त्रिकाल ज्ञानानन्दस्वरूप है – ऐसे आत्मा का आश्रय होने पर जिसे ज्ञान और आनन्द की रचना करने वाला वीर्य पर्याय में जागा और अतीन्द्रिय ज्ञान-आनन्द रस का स्वाद आया – ऐसा धर्मी साधक जीव बन्ध और मोक्ष को जानता है।

केवली भगवान पूर्ण वीतराग है, इसीलिए उन्हें तो राग भी नहीं है और बन्ध भी नहीं है, पर यहाँ ऐसा कहते है कि जिसे सच्चिदानन्दस्वरूप पूर्णानन्दप्रभु आत्मा का अन्तर में भान हुआ है – ऐसा आंशिक शुद्धतारूप परिणमित धर्मी जीव भी राग का अकारक और अवेदक है। अहा ! वह राग को और बन्ध को जानता है, करता नहीं। धर्मी पुरुष राग को ज्ञान की दशा में जानता है कि यह राग है, (दूसरी वस्तु है) यह मेरा है और इसका वेदन मुझे है – ऐसा नहीं मानता।

अहो ! धर्म का स्वरूप अलौकिक है। भाई ! धर्मी जीव बन्ध को भी जानता है और मोक्ष को भी जानता है। वह राग को तथा राग के अभाव को भी मात्र जानता है, उसे करता नहीं है। समझ में आया...? जिसे चिच्चमत्कार प्रभु भगवान आत्मा का भान हुआ उस धर्मी पुरुष की अन्तरदशा कोई अद्भुत अलौकिक होती है।

कलकत्ता के एक समाचारपत्र में आया है कि – कानजी स्वामी तो सबको 'भगवान आत्मा' कहकर सम्बोधन करते हैं। भाई हम तो सबको भगवान आत्मारूप में देखते हैं भगवान ! हम तो तुझे बालक, जवान या वृद्धरूप देखते ही नहीं। अहाहा ! अन्दर में तू पूर्ण ज्ञानानन्दरूप है न प्रभु ! तू 'भग'

अर्थात् ज्ञानानन्दरूप लक्ष्मी का ध्रुव भण्डार है न नाथ ! ऐसे निजस्वरूप का अनुभव करने वाले की अन्तरदशा अलौकिक होती है।

देखो, वीतराग सर्वज्ञदेव की इच्छा बिना ही ओम् ध्वनि निकलती है। अहाहा ! ओम्-ओम्-ओम्—ऐसी दिव्यध्वनि छूटती है। कहा है कि –

"मुख ओंकार धुनि सुनि, अर्थ गणधर विचारें।
रचि आगम उपदेश, भविक जीव संशय निवारै ॥"

अहाहा ! भगवान की वाणी छद्मस्थ जैसी क्रमवाली नहीं होती, वह सर्वांग से स्फुरती हुई निरक्षरी होती है। सर्वज्ञपरमात्मा श्री सीमंधरनाथ की ऐसी अमृत वाणी विदेह में से यहाँ भरतक्षेत्र में आई है। अहा ! उस वाणी में ऐसा आया कि शुद्धज्ञान परिणत जीव बन्ध और मोक्ष को जानता है। बस ! जिसे अन्तर में स्वरूप के अवलम्बन से धर्म प्रगट हुआ है – ऐसा धर्म परिणत जीव,जो राग आता है उसे भी जानता है और जो राग टला है उसे भी जानता है, पर राग को करता भी नहीं और राग को टालता भी नहीं। अहा ! जिसे अन्दर ज्ञानचक्षु प्रगट हुआ है वह समकिती धर्मी पुरुष ऐसा होता है।

अब कहते हैं – 'मात्र बन्ध-मोक्ष को नहीं, '**कम्मुदयं णिज्जरं चेव**' शुभ-अशुभरूप कर्मोदय को तथा सविपाक-अविपाकरूप और सकाम-अकामरूप दो प्रकार की निर्जरा को भी जानता है।"

जहाँ तक पूर्ण वीतराग सर्वज्ञ नहीं हुआ वहाँ तक साधक जीव को आंशिक बाधकपना भी है। कर्म के उदय के निमित्त से उसे शुभ और अशुभ भाव होता है, पर इन दोनों को साधक धर्मी जीव मात्र जानता है, करता नहीं। किसी को

लगे कि यह तो नया मार्ग निकाला है, पर अरे भाई ! यह तो अनादि की परम्परा में चला आया अनंत तीर्थङ्कर भगवन्तों के द्वारा प्ररूपित सनातन मार्ग है। एकबार धीरज और शान्ति से सुन तो सही प्रभु ! अनादि का जो सत्य मार्ग है वही यह है। भगवान आत्मा स्वयं सहज ही ज्ञानस्वरूप है, वह क्या करे ? बस जाने। अरे ! अनन्तकाल में धर्म क्या चीज है ? उसे समझने की कभी दरकार नहीं की। कदाचित् सुनने गया तो सुनाने वाले भी दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के शुभभाव से धर्म होता है – ऐसा मानने वाले और कहने वाले मिले। वहाँ यह नया क्या करे ? अरे ! ऐसे ही बेचारा स्वरूप को भूलकर चार गतियों में रखड़कर मरण कर रहा है।

देखो न ! कोई पाँच-पच्चीस लाख का दान दे तो लोग उसे धर्म-धुरन्धर की उपाधि दे देते है। क्या कहें ? ऐसे जीवों को धर्म क्या चीज है ? इसकी खबर ही नहीं है। एक करोड़पति ने एकबार पचास हजार का दान दिया तो उसे श्रावक शिरोमणि की उपाधि दे दी। अरे भाई ! श्रावक शिरोमणि किसे कहते है इसकी खबर ही नहीं। श्रावक की व्याख्या तो ऐसी है कि – 'श्र' अर्थात् वास्तविक तत्वस्वरुप जैसा है, वैसा श्रवण करके उसकी श्रद्धा की हो, 'व' अर्थात् राग से आत्मा भिन्न है – ऐसा विवेक किया हो और 'क' अर्थात् स्वानुभव की क्रिया का करने वाला हो – इसका नाम श्रावक है। भाई ! यह तो वस्तु स्थिति है।

यह सुनकर उस करोड़पति सेठ ने यहाँ कहा महाराज ! मुझे तो एक भी व्रत या प्रतिमा नहीं, आत्मा का भान भी नहीं, लोगों ने समझे बिना ही मुझे 'श्रावकशिरोमणि' की उपाधि दे दी है। तब हमने कहा कि भाई ! लोग तो पैसा खर्च करने वाले को धर्म-धुरंधर नाम दे देते है, पर बापू ! धर्म

का स्वरूप इससे जुदा है। धर्म तो अन्तर के आश्रय से प्राप्त होता है, पैसे से नहीं।

प्रभावना के लिए लाखों रुपये दान में देने का, बड़ा मन्दिर बनाने का, जिनप्रतिमा पधराने का, इत्यादि भाव गृहस्थ को अवश्य आते है और आना ही चाहिये, पर वहाँ राग की मन्दता की हो तो शुभ राग के कारण पुण्यबन्ध होता है, पर धर्म नहीं। धर्मी जीव तो पुण्यबन्ध का अकारक और अवेदक है।

भगवान आत्मा ज्ञानमूर्ति प्रभु चैतन्यचक्षु है। जैसे आँख दृश्यमान पदार्थ को देखती है, परन्तु दृश्य में नहीं जाती, वैसे ही चैतन्यचक्षु प्रभु आत्मा पर को जानता है, परन्तु पर में नहीं जाता, पर से भिन्न रहकर पर को जानता है – यह सर्व तत्वज्ञान का निचोड़ है। अज्ञानी इसे नहीं जानता, समकिती ही उसे यथार्थ जानता है।

समकिती जीव अकेला बन्ध और मोक्ष को जानता है – ऐसा नहीं है, वह कर्म के उदय में जो शुभाशुभ भाव होते है, उन्हें भी जानता है। धर्मी को शुभभाव होता है और अशुभभाव भी होता है। चारित्रमोह के उदय में उसे आर्त-ध्यान और रौद्रध्यान के परिणाम भी अपनी कमजोरी के कारण हो जाते है। स्त्री सम्बन्धी विषय का राग भी आता है, परन्तु ज्ञानी उन शुभाशुभ कर्मोदय से भिन्न रहकर उन्हें जानता है। अहाहा! ज्ञान क्या करे? बस जाने। आँख है, वह अन्य चीज का क्या करे? बस देखे, पर आँख अन्य चीज को रचे या तोड़े – यह आँख का कार्य नहीं। उसी प्रकार शुभाशुभ भाव को करे या छोड़े – यह ज्ञान का कार्य नहीं। धर्मी जीव कर्म के उदय में जो शुभभाव होते है उन्हें भी जाने और देह की जो क्रिया होती है उसे भी जानता है, क्योंकि ज्ञानी अपनी

भूमिका में रहता है पर वह राग की भूमिका में प्रवेश नहीं करता।

हमारी छोटी उम्र के समय मूलजी नाम का एक ब्राह्मण हमारे पड़ोस में रहता था। हमारी माँ भूँभली की थी, वह भी भूँभली का रहनेवाला था। हम उसको मूलजी मामा कह कर बुलाते थे। वह सबेरे उठ कर नहाने के बाद बोलता था कि –

"अनुभवी को इतना कि आनन्द में रहना रे,
भजना परिब्रह्म को, अन्य कुछ न कहना रे॥"

यह बात ७७ वर्ष पहले की है, उस समय हम तो छोटे बालक थे, पर हमको लगा कि मामा जो बोलता है वह कुछ जानने जैसा है। मामा को तो कहाँ खबर थी कि इसमें क्या भाव है ? पर हमें ख्याल रह गया कि मामा जो बोलता है उसमें कुछ रहस्य भरा है। वह रहस्य यह है कि – अनुभवी को अर्थात् सम्यग्दृष्टि-धर्मी ज्ञानी को बस आनन्द में सदा रहना। भले शरीर हो, सगा हो, परिवार हो – ये सब रहा अपने घर, अनुभवी को तो बस इतना कि सदा अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव में मस्त रहना। भगवान आत्मा परिब्रह्म नाम समस्त प्रकार आनन्द का नाथ है। अहाहा ! ऐसा जो अपना आत्मा है, उसको भजना-अनुभवना, बस ये ही धर्मी का कार्य है।

यहाँ भी ऐसा कहते हैं कि चौथे गुणस्थान में समकिती धर्मात्मा को कर्म के उदय के निमित्त से जो जो शुभ-अशुभ भाव आते हैं उनका वह अकारक और अवेदक है, वह उनसे भिन्न रहकर उन्हें जानता मात्र है। अहाहा ! मिथ्यादृष्टि कर्मोदय में और शुभाशुभ भाव में एकरूप-तद्रूप रहकर उसका कर्त्ता और भोक्ता होता है, जब कि सम्यग्ज्ञानी धर्मी पुरुष उन्हें दूर से मात्र जानता है, उनमें एकरूप नहीं होता।

ज्ञानी जैसे कर्मोदय को जानता है वैसे सविपाक-अविपाक निर्जरा को भी जानता है, करता नहीं है। आत्मा अकेला ज्ञान और आनन्दस्वरुप है। अहाहा ! ऐसा जिसे अन्तर में भान हुआ वह ज्ञाता-दृष्टा हुआ, जानने वाला, देखने वाला हुआ। वस्तु सहज ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी है। उसका भान होने पर वर्तमान दशा में ज्ञाता-दृष्टापना प्रगटा। अहाहा ! ऐसा ज्ञानी सविपाक-अविपाकरुप और सकाम-अकामरुप – ऐसी दो प्रकार की निर्जरा को बस जानता है।

देखो, वर्तमान में यह मनुष्यगति है तो भी अन्दर नरकगति, देवगति आदि चार गति उदय होता है। पूर्व का बाँधा हुआ कर्म पड़ा है इसलिए देवगति का उदय तो आता है पर वह खिर जाता है, उसे सविपाक निर्जरा कहते हैं। इस-प्रकार पाक आकर कर्म खिर गया, उसे ज्ञानी जानता है। जिसे आत्मा का भान होने पर शान्ति और आनन्द का परिणमन हुआ है, उस जीव को पूर्व में बाँधें हुए गति आदि कर्म उदय में आकर खिर जाते हैं, उसे सविपाक निर्जरा कहते हैं और ज्ञानी उसे जानता है। विपाक अर्थात् कर्म का फल देकर खिर जाना। स्थिति पूरी होने पर उदय में आकर कर्म का खिर जाना, उसका नाम सविपाक निर्जरा है। विपाक अर्थात् विशेष पाक, सत्ता में पड़े हुए कर्म पक कर खिर जाते हैं। ऐसी सविपाक निर्जरा को ज्ञानी जानता है।

अब अविपाक निर्जरा की बात करते हैं। ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा के अनुभवरुप उग्र पुरुषार्थ होने पर, कर्म का उदय में आए बिना खिर जाना अविपाक निर्जरा है। कर्म की उदय में आने की योग्यता है, परन्तु तत्काल उदय में नहीं आया और खिर गया – यह अविपाक निर्जरा है।

वर्तमान में यहाँ मनुष्यगति का उदय है। वर्तमान एक गति विपाकरूप है, दूसरी-तीसरी गति विपाकरूप नहीं हैं, पर अन्दर उदय में आए बिना उसका खिर जाना अविपाक निर्जरा है। ज्ञानी उसे जानता है। आनन्द का नाथ प्रभु त्रिकाली आत्मा है, उसमें अन्तःपुरुषार्थ करने पर आने वाला कर्म पुरुषार्थ से खिर जाता है उसे अविपाक निर्जरा कहते हैं, उसे भी ज्ञानी पुरुष बस जानता है, करता नहीं।

ज्ञानी सकाम-अकामरूप दो प्रकार की निर्जरा को भी जानता है। अहो ! धर्मी जोव ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव से परिणमता है। किसी दिन दस बजे भोजन करने का टाइम हो पर प्रसङ्गवश किसी समय विघ्न आ जाए और दोपहर दो-तीन बजे भोजन लेना पड़े तो वहाँ वह आकुल-व्याकुल नहीं होता, पर सम-भाव से सहन करता है। तब जो निर्जरा होतो है, वह अकाम निर्जरा कहलाती है। अज्ञानी को भी अकाम निर्जरा होती है, पर वह सम-भावपूर्वक नहीं होती। यहाँ कहते हैं – ज्ञानी को जो अकाम निर्जरा होती है उसे वह जानता है – करता नहीं है।

समकिती को पुरुषार्थपूर्वक तप वगैरह के द्वारा जो निर्जरा होती है वह सकाम निर्जरा है। ज्ञानी उसका भी ज्ञाता है, कर्त्ता नहीं। राग होता है, उसे भी ज्ञानी जानता है, करता नहीं, और राग टलता है उसको भी ज्ञानी जानता है पर करता नहीं। अहा ! ज्ञातास्वभावरूप परिणमित ज्ञानी जीव की अन्तरदशा अद्भुत अलौकिक होती है।

लोग तो बाहर दानादि में पैसा खर्च करके और राग की मन्दतारूप परिणाम से धर्म होना मानते हैं, परन्तु भाई ! धर्म का ऐसा स्वरूप नहीं। धर्म तो अन्तर की चीज है और वह शुद्ध ज्ञातादृष्टा स्वभाव के अवलम्बन से प्रगट होता है। अब यह बात कठिन भले पड़े, तो भी बापू ! सत्य तो यही है।

जैसे, भगवान केवली का आत्मा एक ज्ञानमात्र भाव में तन्मय है, वैसे धर्मी-समकिती भी एक ज्ञानमात्र भाव में तन्मय वर्तता है। अहाहा! देखो तो सही! भगवान का ये समवशरण, ये बारहसभा, ये दिव्यध्वनि! अकेला पुण्य का ढेर! पर बापू! भगवान इसके कर्त्ता नहीं है। भगवान ने इसमें कहीं प्रवेश नहीं किया, स्पर्श नहीं किया। 'भगवान की वाणी' – ऐसा उपचार से कहा जाता है, वाणी के काल में भगवान केवली का ज्ञान निमित्त है बस इतना ज्ञान कराने के लिए उपचार से "भगवान की वाणी" – ऐसा कहा जाता है। अहा! ऐसे ज्ञान-स्वरूप भगवान को जो यथार्थ देखे, वही भगवान को यथार्थ देखता है।

तीर्थङ्करों को वाणी का अद्भुत दिव्य योग होता है – यह सत्य है, दूसरों की वैसी वाणी नहीं होती, तो भी वह वाणी जड़ वर्गणाओं का परिणमन है, वह भगवान का कार्य नहीं है। वाणी कार्य और क्षायिकज्ञान उसका कर्त्ता, ऐसा नहीं है। तथा गणधर देव को, उस वाणी के काल में जो बारह अङ्गरूप भाव-श्रुतज्ञान खिला, वहाँ वाणी कर्त्ता और गणधरदेव का ज्ञान उसका कार्य – ऐसा भी नहीं है। अहाहा! ज्ञान के निरालम्बी स्वभाव की महिमा का क्या कहना? ज्ञान वाणी को उपजाता नहीं। भले दिव्यध्वनि होने में भगवान केवली का केवलज्ञान ही निमित्तरूप हो, अज्ञानी का ज्ञान निमित्त न हो, तो भी ज्ञान का और वाणी का कर्त्ता-कर्मपना नहीं है। दोनों ही तत्त्व जुदे-जुदे हैं।

प्रश्न – आत्मा यदि नहीं बोलता तो अब हम नहीं बोलते, मौन ही रहेंगे?

उत्तर – अरे भाई! पहले भी तू कहाँ बोलता था, जो अब नहीं बोलने का अभिमान करता है? मैं वाणी न बोलूँ

अर्थात् भाषा को नहीं परिणमाऊँ – ऐसा माने, उसे भी जड़ की कर्त्ता-बुद्धि खड़ी ही है ! बापू ! जैसे भाषा बोलना जड़ की क्रिया है वैसे ही भाषा नहीं बोलना भी जड़ की ही क्रिया है। ज्ञानी तो दोनों में से एक का भी कर्त्ता नहीं है। समझ में आया`?अहाहा ! ज्ञानी कहते हैं कि हम वाणी में या विकल्प में नहीं रहते,हम तो हमारे ज्ञानमात्र भाव में ही रहते हैं। वाणी के या विकल्प के कर्त्तारूप हम को न देखना, देखोगे तो तुम्हारा ज्ञान मिथ्या होगा। अहो ! भगवान केवली की तरह शुद्धज्ञान परिणत धर्मी पुरुष, शरीर को, मन को, वचन को, कर्म के बन्ध-मोक्ष को, कर्मोदय को और निर्जरा को भी नहीं करता, तो क्या करता है ? मात्र जानता ही है अर्थात् शुद्धज्ञानपने ही रहता है। यह "जानता ही है" – ऐसा जो भाव है, वह मोक्ष-मार्ग है। अहा ! वस्तु स्थिति जैसी है वैसी जाननेरूप रहनेवाला मैं तो एक ज्ञायकभाव मात्र आत्मा हूँ – ऐसा अपने को जानना-अनुभवना वह मोक्षमार्ग है –

वीतराग का मार्ग यह कहते श्री भगवान।
समवशरण के मध्य में सीमन्धर भगवान ॥

देखो, यहाँ पहले पैराग्राफ में तीन बातें आईं –

१. शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा का शुद्धज्ञान,पुण्य-पाप आदि भावों को करता नहीं और वेदता नहीं।
२. इसमें शुद्ध ज्ञानपरिणत जीवद्रव्य लिया है। जिसे पर से और राग से भिन्न शुद्ध ज्ञानघन प्रभु आत्मा का निर्मल श्रद्धान हुआ है, वह शुद्ध ज्ञानपरिणत जीव है और वह राग का कर्त्ता या भोक्ता नहीं है। वह छद्मस्थ है, इसलिए उसे राग आता है पर उसका भी वह अकारक और अवेदक ही है।
३. क्षायिकज्ञान - केवलज्ञान जिसे प्रगट हुआ है, ऐसे केवली परमात्मा रागरहित पूर्ण वीतराग हैं, इसलिए वे भी कर्मों

के अकारक तथा अवेदक हैं, उनके शरीर की दशा नग्न होती है और उन्हें आहार-पानी भी नहीं होता। ऐसे केवली भगवान राग को करते नहीं तथा वेदते भी नहीं।

इस प्रकार तीन बातें करके फिर साधक जीव की बात करते हैं कि शुद्धज्ञान परिणत जीव क्या करता है ? कि जानता है। किसे ? बन्ध और मोक्ष को, मात्र बन्ध-मोक्ष को नहीं, शुभ-अशुभ कर्मोदय को तथा सविपाक-अविपाक रूप और सकाम-अकाम रूप दो प्रकार की निर्जरा को भी जानता है। अहाहा ! चौथे, पाँचवे और छठवें गुणस्थानवाला जीव रागरूपी भाव-बन्ध को जानता है और राग का अभाव हो, मोक्ष हो – उसे भी जानता है। वह शुभाशुभ कर्मोदय को और प्रतिसमय होने वाली सविपाक-अविपाकरूप और सकाम-अकामरूप निर्जरा को भी जानता है। वह उनका करने वाला या वेदने वाला नहीं रहता, मात्र जानने वाला ही रहता है। ये सब अलौकिक बातें हैं।

जैसे आँख पदार्थों को मात्र देखती है, उसे अपने में ग्रहण नहीं करती वैसे आत्मा की आँख अर्थात् शुद्ध ज्ञानपरिणति भी राग-द्वेष को, पुण्य–पाप को करती–भोगती नहीं, उन्हें ग्रहण नहीं करती, उनसे जुदी ही वर्तती है। जिस प्रकार यदि आँख अग्नि को करने और भोगने जाए तो आँख अग्निरूप हो जाए अर्थात् जल जाए, उसी प्रकार यदि ज्ञानचक्षु रागादि को करने-भोगने जाए तो वह रागदिरूप हो जाए अर्थात् उसकी शान्ति जल जाए, पर निर्मल ज्ञानपरिणति रागादि भावों को स्पर्शती ही नहीं, उसे करती या वेदती भी नहीं। ज्ञानपरिणति का ऐसा सहज स्वभाव ही है। शुद्धज्ञान परिणत आत्मा शुद्ध उपादानरूप से ज्ञान को करता है, पर रागादि को या कर्म को नहीं करता, नहीं भोगता, उसे मात्र जानता ही है।

भाई ! केवली को तो राग होता ही नहीं, इसलिए वह उसे न करे, पर साधक को तो राग होता है, इसलिए वह उसका कर्त्ता होता होगा ? ऐसी शंका न करना। साधक का ज्ञान - भावश्रुतज्ञान भी केवलज्ञान की तरह ही पर से – राग से जुदा वर्तता है, उसके लिए राग पर ज्ञेय रूप ही है, ज्ञान उसमें तन्मय नहीं होता। अहा ! केवली का ज्ञान (केवलज्ञान) हो या साधक का ज्ञान (भाव-श्रुतज्ञान) हो, ज्ञान का स्वभाव हो ऐसा है कि उसमें राग नहीं समाता, वह तो राग से भिन्न सदा ज्ञायक ही है।

अब भगवान आत्मा कैसा है, उसका त्रिकाली स्वरूप कैसा है ? वह बताते हैं। अहाहा ! सम्यग्दर्शन का विषय (लक्ष्य) सम्यग्दर्शन का ध्येय, परमात्मस्वरूप ऐसा त्रिकाल आत्मा कैसा है ? वह अब कहते हैं।

"सर्वविशुद्ध-पारिणामिक-परमभावग्राहक शुद्ध उपादानभूत शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय से जीव कर्तृत्व-भोक्तृत्व से तथा बन्ध-मोक्ष के कारण और परिणाम से शून्य है – ऐसा समुदाय पातनिका में कहा गया था।"

आचार्य श्री जयसेन स्वामी ने ३०८ से ३२० तक की गाथाओं को मोक्ष-अधिकार की चूलिका के रूप में वर्णन किया है। उसके उपोद्घात में – समुदाय पातनिका में कहा था कि "सर्वविशुद्ध-पारिणामिक-परमभावग्राहक शुद्ध उपादानभूतशुद्ध-द्रव्यार्थिकनय से जीव कर्तृत्व-भोक्तृत्व से तथा बन्ध-मोक्ष के कारण और परिणाम से शून्य है।"

अहाहा ! यह इस आत्मा के सहज एक शुद्ध स्वभाव की बात है। "सर्वविशुद्ध - पारिणामिक" – अर्थात् आत्मा का सहज अकृत्रिम एक शुद्ध स्वभाव जो सम्यग्दर्शन का विषय है। "परमभावग्राहक" अर्थात् त्रिकाली एक ज्ञायक स्वभाव को

ग्रहण करने वाले अर्थात् जानने वाले शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय से जीव कर्म के कर्तृत्व-भोक्तृत्व से और बन्ध-मोक्ष के कारण और परिणाम से रहित है। परमात्मप्रकाश में (दोहा १९१ की टीका में) परमानन्द स्तोत्र का श्लोक आता है कि–

आनन्द ब्रह्मणो रूपम् निजदेहे व्यवस्थितम्।
ध्यानहीना न पश्यन्ति जात्यंधा इव भास्करम्॥

अहाहा! देह में, शरीर में, भिन्नपने विराजमान ब्रह्म नाम परम स्वभाववान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है। परन्तु जिस प्रकार जन्मान्ध पुरुष सूर्य को नहीं देख सकता उसी प्रकार अन्तरदृष्टिपूर्वक ध्यान से रहित प्राणी आनन्दकन्द प्रभु आत्मा को नहीं देख सकता। आत्मा अन्दर में अतीन्द्रिय आनन्दरूप परम स्वभाव, भावरूप है, उसे मिथ्यादृष्टि नहीं देख सकते।

यहाँ भी कहते हैं कि– परमभावग्राहक शुद्ध उपादानभूत शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय से, जीव कर्तृत्व-भोक्तृत्व से और बन्ध-मोक्ष के कारण और परिणाम से शून्य है। यह एक, आनन्द-रूप, ज्ञायकरूप, ध्रुवस्वभावभावरूप, शुद्ध उपादानभूत त्रिकाली परम स्वभावभाव की बात है। पर्याय में जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप वीतरागी दशा प्रगट होती है, उसे भी (क्षणिक) शुद्ध उपादान कहते हैं, पर यहाँ त्रिकाली द्रव्य को शुद्ध-उपादानरूप से ग्रहण करना है।

अहाहा! महामुनिवर दिगम्बर सन्त जयसेनाचार्य की यह टीका है। वे वनवासी मुनि थे, मुख्यपने निजानन्दरस में लीन रहते थे। वे इस टीका में कहते हैं कि परमपारिणामिक परमभावरूप ऐसा जो शुद्ध-द्रव्यस्वभाव है उसे ग्रहण करने वाले अर्थात् जानने वाले शुद्ध उपादानभूत शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय से जीव कर्तृत्व-भोक्तृत्व से शून्य है। यहाँ शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय से कहा

न ? अर्थात् शुद्ध उपादान तो कर्त्ता-भोक्तापने से त्रिकाल शून्य है, पर उसके लक्ष्य से जो वर्तमान दशा प्रगट होती है, वह भी कर्त्ता-भोक्तापने से शून्य है। अहाहा ! त्रिकाली वस्तु को पकड़ने वाली आनन्द की दशारूप परिणमित जीव भी शुभाशुभ राग के और पर पदार्थ के कर्त्ता-भोक्तापने से शून्य है। अभी लोगों को यह बात सुनने को नहीं मिलती इसलिए कठिन लगती है, परन्तु भाई ! यह बात परम सत्य है।

दया, दान, पूजा, व्रत, भक्ति इत्यादि करते-करते निश्चय सम्यक्त्व और निश्चय चारित्र प्रगट हो जाएगा – ऐसा मानने वाले को शुद्ध अन्तःतत्व की खबर नहीं है। कितने ही लोग तो इस शुद्ध अन्तःतत्व की बात को एकान्त मानकर उड़ा देते हैं। पर अरे प्रभु ! ऐसे भाव से तुझे संसार का परिभ्रमण होगा। भाई ! यह तो तेरे हित की बात है, इसकी उपेक्षा करने से तुझे बहुत नुकशान होगा। अरे ! सर्वज्ञ परमेश्वर भगवान केवली यहाँ रहे नहीं, तीन ज्ञान और चार ज्ञान की दशा वाले मुनिराज भी रहे नहीं। इस सत्य का हकार किसके पास कराना ? तू माने, न माने, पर मार्ग तो यही है, भाई !

शुद्ध चैतन्यमूर्ति भगवान सच्चिदानन्द प्रभु परमभाव - स्वरूप है। वह वर्तमान निर्मल निर्विकार वीतरागी ज्ञान पर्याय से जानने योग्य है। ऐसा आत्मा जिसे दृष्टि में आया, अनुभव में आया, वह व्यवहार का, राग का कर्त्ता नहीं, भोक्ता भी नहीं, ऐसा वस्तु का स्वरूप है। राग की वृत्ति उठे, उसका कर्त्ता-भोक्ता तो नहीं पर बन्ध-मोक्ष के कारण और परिणाम से भी आत्मा शून्य है।

अहाहा ! भगवान ! तू कौन है ? कि पूर्णानन्द का नाथ सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा है। त्रिकाली चैतन्य का दल है न प्रभु तू ! तुझे जानने वाले शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय से

देखने पर कहते कि तू बन्ध और बन्ध के कारण से तथा मोक्ष और मोक्ष के कारण से रहित है। अहाहा ! सम्यग्दर्शन का ध्येयरूप त्रिकाली शुद्ध आत्मा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम से रहित है। यह बात सूक्ष्म है। प्रभु ! तू बन्ध के कारण से रहित है पर मोक्ष के कारण से भी रहित है।

भाई ! यह तो मूल मुद्दा की रकम की बात है। त्रिकाली ध्येयस्वरूप पूर्ण शुद्ध चिन्मात्र वस्तु भगवान आत्मा बन्धरूप परिणामों का और बन्ध के कारण जो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग का करता नहीं है। तथा वह केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य आदि मोक्षरूप परिणामों को नहीं करता, और मोक्ष के कारण जो निर्मल रत्नत्रय, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणामों को भी नहीं करता। क्यों ? क्योंकि भगवान आत्मा त्रिकाली एक-रूप ध्रुव वस्तु है और बन्ध-मोक्ष आदि एक समय की पर्याय है। भाई ! यह मार्ग सर्वज्ञ से सिद्ध है। शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से आत्मा बन्ध-मोक्ष के कारण और बन्ध-मोक्ष के परिणाम से शून्य है। मोक्ष है, वह परिणाम है – पर्याय है, उसे एकरूप ध्रुवद्रव्य कुछ करता नहीं।

भाई ! जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ तीर्थङ्कर परमात्मा को सर्वज्ञदशा प्रगट होती है, उसमें भगवान को तीनकाल-तीन लोक ज्ञान होता है। भगवान को उन्हें जानने की इच्छा नहीं होती। उनको बारहवें गुणस्थान में पूर्ण वीतरागता प्रगट होती है और उसके बाद तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान प्रगट होता है। केवलज्ञान की पर्याय ध्रुवद्रव्य नहीं करता है। सम्यग्दर्शन का विषय जो ध्रुव त्रिकाली चैतन्यद्रव्य है, वह बन्ध-मोक्ष के कारणों का करता नहीं है।

अहो ! ऐसी बात अन्यत्र कहाँ है ? एक दिगम्बर धर्म में ही है। पर उसमें भो (दिगम्बर सम्प्रदाय में भी) अब यह बात इस प्रकार नहीं चलती, आजकल बहुत फेरफार हो गया है। सम्यग्दर्शन के विषयभूत ध्रुव दशावान पदार्थ में पलटती हुई, बन्ध-मोक्ष की दशाओं का अभाव है। बन्ध-मोक्ष का परिणाम तो उत्पाद-व्ययरूप पलटता हुआ परिणाम है, उसका ध्रुव में अभाव है। तत्वार्थसूत्र में "उत्पाद्रव्ययध्रुवयुक्तं सत्"– ऐसा आता है न ? उसमें ध्रुव जो त्रिकाली सत् है, उसमें उत्पाद-व्यय का अभाव है अर्थात् ध्रुव उत्पाद-व्यय को (पलटती पर्याय को) नहीं करता – ऐसा कहते हैं। बापू ! भगवान का मार्ग ही जुदा है भाई !

मोक्ष महल की परथम सीढ़ी – अहाहा ! ऐसा सम्यग्दर्शन कोई अलौकिक चीज है, तो मुनिदशा की तो बात ही क्या ? जिसे तीन कषाय के अभाव सहित अन्तर में प्रचुर आनन्द का स्वाद - अनुभव है और बाहर में वस्त्र का एक धागा भी नहीं है, जङ्गल में जिसका वास होता है – ऐसे दिगम्बर सन्तों की क्या बात करना ? छट्ठे-सातवें गुणस्थान में झूलते इन मोक्षमार्गी मुनिवरों की दशा महा अलौकिक होती है। बापू ! मुनि तो साक्षात् धर्मस्वरूप हैं – ऐसी मोक्षमार्ग की दशा को त्रिकाली ध्रुवद्रव्य नहीं करता। अहो ! किसी भाग्य-शाली को रुचे – यह ऐसी बात है। (कहने का आशय यह है तू इस बात की रुचि कर)

शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय से आत्मा ज्ञायकभावरूप शुद्ध पारि-णामिक परम स्वभावभावरूप है। ऐसे परमस्वभावभाव की भावना से मोक्षमार्ग प्रगट होता है। यह भावनारूप मोक्षमार्ग पर्याय है। बन्ध-मोक्ष की पलटना तो पर्याय में ही होती है द्रव्य में नहीं। ध्रुव द्रव्य बन्ध-मोक्ष की पर्यायरूप नहीं होता। पर्याय

का कर्त्ता पर्याय धर्म है। पर्याय है अवश्य,पर वह त्रिकाली ध्रुव द्रव्यरूप नहीं है। द्रव्यदृष्टि का विषय भी वह नहीं है, अर्थात् द्रव्य को देखने वाली दृष्टि में पर्याय गौण है। इस प्रकार द्रव्यार्थिकनय से जीवद्रव्य बन्ध-मोक्ष के कारण और परिणाम से रहित है।

बन्ध और मोक्ष के कारण, ये दोनों पर्यायरूप हैं। जीव का अशुद्ध परिणाम बन्ध का कारण है और शुद्ध परिणाम मोक्ष का कारण है – ये दोनों प्रकार के परिणाम, पर्यायरूप हैं। वहाँ परद्रव्य तो बन्ध-मोक्ष का कारण नहीं, शुद्ध-द्रव्यरूप पारिणामिक परमभाव भी बन्ध-मोक्ष का कारण नहीं है, यदि शुद्ध द्रव्य बन्ध का कारण हो तो त्रिकाल बन्ध ही हुआ करे तथा यदि वह मोक्ष का कारण हो तो त्रिकाल मोक्ष हो अथवा पारिणामिकभाव स्वयं सर्वथा पर्यायरूप हो जाए तो पर्याय के साथ उसका भी नाश हो जाए। इस प्रकार इस न्याय से सिद्ध हुआ कि बन्ध-मोक्ष के परिणाम और उसका कारण पर्याय में है, पर त्रिकाली ध्रुवद्रव्य शुद्ध एक परमभावस्वरूप वस्तु इनसे शून्य है। त्रिकाली ध्रुव में बन्ध-मोक्ष नहीं है। अहो ! यह तो चमत्कारी गाथा और चमत्कारी टीका है।

एक भाई कहते थे कि "तुम जो अरिहंत का और सिद्ध का ध्यान करते हो, वह झूँठा है, क्योंकि अरिहंत और सिद्ध यहाँ हैं नहीं ?"

अरे भाई ! तू सुन तो सही जरा प्रभु ! जो अर्हन्तदशा और सिद्धदशा अन्दर में शक्तिरूप से पड़ी है, उसका जो ध्यान करता है, वह अर्हन्त का और सिद्ध का ध्यान करता है। क्या कहा ? केवली को जो केवलज्ञान आदि अनन्त चतुष्टय प्रगट हुआ है, वह अन्दर में शक्ति में है,इसीलिए तो कहा कि – "सिद्ध समान सदा पद मेरो"। भगवान आत्मा वीतरागी दशा प्रगट

होने योग्य पूर्ण निर्मल वीतरागी अनन्त शक्तियों का पिण्ड है। भाई ! यह परम सत्य की प्रसिद्धि है। अहा ! त्रिकाली शुद्ध द्रव्यस्वभाव के आश्रय से निर्मल वीतरागी परिणति प्रगट होती है, इस अपेक्षा से (आश्रय अपेक्षा से) उसे मोक्ष और मोक्षमार्ग का कारण भले कहो, पर शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय से उसमें बन्ध-मोक्ष नहीं है अर्थात् शुद्ध त्रिकाली द्रव्य बन्ध-मोक्ष का कर्त्ता नहीं है।

कुछ लोग कहते हैं कि – परिणाम अशुद्ध हैं इसलिए द्रव्य भी अशुद्ध हो गया।

अरे प्रभु ! यह तू क्या कहता है ? इस काल के साधारण बुद्धि वाले जीवों को कुछ खबर नहीं पड़ती इसलिए 'हाँ जी हाँ, कहते हैं। परन्तु बापू ! आत्मा की एक समय की पर्याय में बन्ध का अशुद्ध भाव है, इसलिए द्रव्य अशुद्ध हो गया – ऐसा नहीं है।

पर्याय की अशुद्धता के काल में भी अन्दर त्रिकाली द्रव्य तो ऐसा का ऐसा शुद्ध चैतन्य का दल है। उसमें अशुद्धता अर्थात् बन्ध की पर्याय का तो प्रवेश नहीं, पर उसमें शुद्धतारूप मोक्ष की पर्याय का भी प्रवेश नहीं है। अहाहा ! त्रिकाली शुद्ध चैतन्यद्रव्य तो बन्ध-मोक्ष के कारण और परिणाम से रहित है। किसी को यह बात एकान्त लगे, पर भाई ! यह सम्यक् एकान्त है। यह तो महामुनिवर दिगम्बर सन्त श्री जयसेनाचार्य देव का कथन है। अहाहा ! अन्तर में जिन्हें रागरहित वीतराग दशा थी, और बाहर में जिन्हें वस्त्ररहित नग्नदशा थी, जिन्हें अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर संवेदन था, वे मुनिराज कहते हैं कि हमारी यह जो मुनिपने की – मोक्ष मार्ग की दशा है, उसे ध्रुवद्रव्य नहीं करता है, वह दशा ध्रुव में नहीं है।

अहा ! भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ प्रभु पूर्ण एक शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। वह अनन्त शक्तियों का पिण्ड है। उसकी एक-एक शक्ति पूर्ण शुद्ध है। जो शक्ति शुद्ध है, वह

अशुद्धता को कैसे करे ? न करे। अशुद्धता को तो न करे, शुद्धता के उत्पाद को भी वह नहीं करती – ऐसा कहते हैं, क्योंकि द्रव्य उत्पादरूप पर्याय को स्पर्श भी नहीं करता।

देखो, समयसार की ४९वीं गाथा की टीका में अव्यक्त के छह बोल हैं,उसके पाँचवें बोल में आता है कि – 'व्यक्तता तथा अव्यक्तता एकमेक मिश्रितरूप से प्रतिभासित होने पर भी वह केवल व्यक्तपने को ही स्पर्श नहीं करता, इसलिए अव्यक्त है।" व्यक्त पर्याय अव्यक्त द्रव्य को स्पर्शती नहीं और अव्यक्त द्रव्य व्यक्त पर्याय को स्पर्शता नहीं। व्यक्त अर्थात् प्रगट पर्याय और अव्यक्त अर्थात् ध्रुवद्रव्य - दोनों को एक साथ जानने पर भी वह व्यक्त को स्पर्श नहीं करता। द्रव्य ध्रुव है, वह मोक्ष-मार्ग की पर्याय को स्पर्श नहीं करता।

प्रवचनसार की १७२वीं गाथा में अलिङ्गग्रहण के बीस बोल हैं, उसमें अन्तिम बोल में कहा है कि – "लिङ्ग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोधसामान्य जिसके नहीं है, वह अलिङ्गग्रहण है, इस प्रकार आत्मा द्रव्य से नहीं आलिङ्गित ऐसी शुद्ध पर्याय है, ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।" अहाहा ! आत्मा शुद्ध पर्याय है, वह ध्रुव को स्पर्शती नहीं। पर्याय और द्रव्य दो चीज हैं, वे दोनों अस्तिरूप हैं। दो वाचक के वाच्य भी दो हैं। वे दो रूप ही रहना चाहिए, वहाँ वह (ध्रुव) इस (पर्याय) को कैसे करे ? दोनों अपने-अपने में सत् हैं न प्रभु ! भाई ! यह समझकर अन्दर में (शुद्ध अन्तःतत्त्व में) रुचि करना चाहिए। अन्दर की रुचि (सम्यग्दर्शन) बिना व्रत, तप आदि बाहर के आचरण करे, पर ये तो सब बिना एक की बिन्दी जैसे हैं। समझ में आया···?

अहा ! जो ध्रुव है, वह तो सदा एकरूप सदृश है और पर्याय (उत्पाद-व्यय) विसदृश हैं। क्या कहा ? ध्रुव एक

परमभाव – ज्ञायकभाव त्रिकाली एकरूप सदृश चीज है, उत्पाद-व्यय तो भाव-अभावरूप विसदृश हैं। अब जो सदृश है, वह विसदृश को कैसे करे ? विदृसश को स्पर्श नहीं करने वाला सदृश त्रिकाली ध्रुव, विसदृश पर्याय को किस प्रकार करे ? "परिणाम परिणाम में रह गया, मैं तो भिन्न वस्तु हूँ"– ऐसा सोगानीजी ने द्रव्यदृष्टि प्रकाश में कहा है न ? यह वही बात है। तेरा मार्ग जुदा है प्रभु ! तुझे धर्म करना है न ? तो कहते हैं–धर्म की पर्याय को परद्रव्य तो नहीं करे, पर तेरा त्रिकाली ध्रुव द्रव्य भी नहीं करता। अहाहा ! राग तो धर्म पर्याय को न करे; शुभराग कर्त्ता और धर्म की पर्याय उसका कर्म, ऐसा तो नहीं है, पर ध्रुवद्रव्य कर्त्ता और पर्याय इसका कार्य – ऐसा भी नहीं है। अहो ! पर्याय-पर्याय स्वतन्त्र सत् है। इसमें तो गजब की बात है भाई !

ये सब पैसे वाले धूल में (पैसे में) फँस गए हैं, उन्हें अब ये सब बातें किस दिन सुनने को मिलें ? बेचारों को फुरसत मिले तब न ? यहाँ कहते हैं – सुन तो प्रभु ! ये तेरा चैतन्यदल है, इसमें अनन्त शक्तियाँ हैं। ऐसी अनन्त शक्तियो का एकरूप पिण्ड वह द्रव्य है। उसे जानने वाला शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय है। शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय से ध्रुव द्रव्य मोक्ष-मार्ग और मोक्ष की पर्याय को नहीं करता। गजब की बात की है, सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार की समुदायपातनिका में यह बात पहले कही गई है।

अब कहते हैं – "पहले चार गाथाओं द्वारा जीव के व्याख्यान की मुख्यता से सामान्य वर्णन किया गया। उसके बाद चार गाथाओं द्वारा **"शुद्ध को भी जो प्रकृति के साथ बन्ध होता है, वह अज्ञान का माहात्म्य है" इस प्रकार अज्ञान का सामर्थ्य कहनेरूप विशेष वर्णन किया गया है।**

भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द प्रभु है, उसे राग का बन्ध होता है, यह अज्ञान का माहात्म्य है। क्या कहा ? अपने

स्वरूप का भान नहीं, ऐसा जो अज्ञान है, वह बन्ध का कारण है। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यघन प्रभु सदा अबन्ध-स्वरूप है, वह राग को नहीं स्पर्शता, तथापि प्रकृति के साथ उसका जो बन्ध होता है, वह अज्ञान का माहात्म्य है।

भाई ! तेरी पर्याय में तेरी भूल से तुझे बन्ध है। भूल क्या है ? कि स्वयं ने स्वयं को नहीं जाना, अपने स्वरूप को नहीं जाना, यही भूल है और इसी से बन्धन है, इसीलिए तो उससे छूटनेरूप मोक्षमार्ग का उपदेश दिया जाता है। यदि बन्धन हो ही नहीं तो "मोक्ष के लिए शुद्धात्मा को ध्याओ" ऐसा उपदेश क्यों देते ? पर्याय में बन्धन है और उससे छूटने का उपाय भी है। पर उतना ही सम्पूर्ण आत्मा नहीं। उन पर्यायों के समय ही सम्पूर्ण परमभावस्वरूप परम पवित्रता का पिण्ड प्रभु आत्मा अनन्त शक्तियों से परिपूर्ण अन्दर विराज रहा है, जिसका लक्ष्य करने से बन्धन टलता है और मोक्ष प्रगट होता है। ऐसे पवित्रस्वरूप प्रभु आत्मा का ज्ञान नहीं – ऐसे अज्ञान की यह महिमा है कि इसे पर्याय में बन्ध है।

अरे ! लोग तो बाह्य क्रिया में धर्म मानते हैं। दया पालना, सामायिक करना, उपवास करना, चौविहार करना, कन्दमूल न खाना इत्यादि मन्दराग की क्रिया में धर्म मानते हैं, पर भाई ! इसमें धूल बराबर भी धर्म नहीं है। क्रिया का राग तो क्लेश है, दुःख है और उसे धर्म मानना यह स्व-स्वरूप का अज्ञान है। अहा ! शुद्ध द्रव्य को जड़कर्म की प्रकृति के साथ जो बन्ध है, वह इस अज्ञान का माहात्म्य है। अहा ! मारग तो एक वीतराग स्वरूप है और दुनिया कहीं और (रागमय) मान बैठी है – ये अज्ञान का माहात्म्य है। इस प्रकार (चार गाथाओं में) अज्ञान का सामर्थ्य कहनेरूप से विशेष वर्णन किया है।

अब कहते हैं – "**उसके बाद चार गाथाओं द्वारा जीव के अभोक्तृत्व-गुण के व्याख्यान की मुख्यता से व्याख्यान किया है** ।"

पहले अकर्तृत्वगुण कहा, फिर अभोक्तृत्व के व्याख्यान की मुख्यता से व्याख्यान किया है ।

उसके बाद दो गाथाएँ कहीं जिनके द्वारा, पूर्व में बारह गाथाओं में शुद्ध निश्चय से कर्तृत्व-भोक्तृत्व के अभावरूप तथा बन्ध-मोक्ष के कारण और परिणाम के अभावरूप जो व्याख्यान किया था; उसका ही उपसंहार किया गया है ।

इसप्रकार समयसार की शुद्धात्मानुभूति लक्षण 'तात्पर्यवृत्ति' नाम की टीका में मोक्षाधिकार सम्बन्धी चूलिका समाप्त हुई । अथवा दूसरी रीति से व्याख्यान करने पर यहाँ मोक्षाधिकार समाप्त हुआ ।

देखो, इस टीका का नाम शुद्धात्मानुभूति लक्षण 'तात्पर्यवृत्ति' है । श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव की टीका का नाम "आत्मख्याति" है । श्री जयसेनाचार्यदेव की अपेक्षा से मोक्षाधिकार सम्बन्धी चूलिका समाप्त हुई अथवा अन्य प्रकार व्याख्यान करने पर मोक्षाधिकार यहाँ समाप्त हुआ ।

अब विशेष कहा जाता है –

औपशमिकादि पाँच भावों में किस भाव से मोक्ष होता है – यह विचार किया जाता है ।

वहाँ औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और औदयिक ये चार भाव पर्यायरूप हैं तथा शुद्ध पारिणामिक (भाव) द्रव्यरूप है । ये परस्पर सापेक्ष ऐसा द्रव्य-पर्यायद्वय (द्रव्य और पर्याय का जोड़ा) वह आत्मा-पदार्थ है ।

देखो, पाँच भावों में उपशमादि चार भाव पर्यायरूप हैं । उनमें प्रथम तीन भाव निर्मल पर्यायरूप हैं, औदयिकभाव

मलिन विकाररूप हैं और पारिणामिक भाव ध्रुव द्रव्यस्वरूप है। वह आत्मा का अहेतुक अकृत्रिम सहज स्वभाव है।

१. **औपशमिकभाव** – पाँच भावों में एक औपशमिकभाव है, वह निर्मल है। जैसे पानी में मैल नीचे बैठ जाए और ऊपर पानी निर्मल हो जाए, वैसे कर्म का उदय रुके और अन्दर पर्याय में निर्मलभाव प्रगट हो, उसे औपशमिकभाव कहते हैं। अनादिकाल का अज्ञानी जीव जब सर्वप्रथम अपने शुद्ध स्वभाव का भान करता है, तब चौथे गुणस्थान में औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। इस औपशमिकभाव से धर्म की शुरूआत होती है, पश्चात् चारित्र में उपशमभाव मुनि की श्रेणी के समय होता है। यह उपशमभाव निर्मलभाव है। उसमें मोह का वर्तमान उदय नहीं है, तथा उसका सर्वथा क्षय भी नहीं हुआ। जैसे नितरे हुए स्वच्छ पानी के नीचे मैल बैठ गया हो, वैसे जीव की स्वच्छ निर्मल पर्याय में भी सत्ता में मोहकर्म पड़ा है – इस अवस्था को औपशमिकभाव कहते हैं।

२. **क्षायोपशमिकभाव** – इस भाव में कुछ विकास और कुछ आवरण है, ज्ञानादिका सामान्य क्षयोपशमभाव तो सभी छद्मस्थ जीवों को अनादि से होता है, पर यहाँ मोक्ष के कारणरूप क्षयोपशमभाव बताना है – अर्थात् यहाँ सम्यग्दर्शन पूर्वक क्षयोपशमभाव की बात है।

कर्म के उदय का उदयाभावी क्षय और अनुदय उपशमरूप से अन्दर सत्ता में रहें, उसके निमित्त से जीव का जो भाव हो, उसे क्षयोपशमभाव कहते हैं।

३. **क्षायिकभाव** – आत्मा के गुण की सम्पूर्ण शुद्ध दशा प्रगटे और कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाय – ऐसी दशा वह क्षायिकभाव है। दर्शनमोहनीय का क्षय होने पर क्षायिक सम्यग्दर्शन, ज्ञानावरणी का क्षय होने पर क्षायिकज्ञान, दर्शना-

वरणी का क्षय होने पर क्षायिक दर्शन – ऐसे जो भाव प्रगट होते हैं, वे क्षायिक भाव कहलाते हैं।

ये तीनों भाव निर्मल पर्यायरूप हैं, ये अनादि के नहीं होते; पर आत्मा के आश्रयपूर्वक नये प्रगट होते हैं, सादि हैं। ये भाव मोक्ष का कारण होते हैं – ऐसा आगे कहेंगे।

४. **औदयिकभाव** – जिसमें कर्म का उदय निमित्त होता हैं, जीव के ऐसे रागादि विकारी भाव औदयिक भाव हैं। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि तथा हिंसा, झूँठ, चोरी, कुशील आदि रूप भाव औदयिकभाव हैं।

एक अपेक्षा से इसे पारिणामिक भाव भी कहा है। जीव स्वयं भाव करता है, इस अपेक्षा से उसे पारिणामिकभाव कहा है। अब ऐसी बात ओघे-ओघे (विपरीत अभिप्राय से) जो सुने उसे क्या समझ में आये ? भाई ! दया पालो, दान करो, व्रत पालो – ऐसी प्ररूपणा करे,पर बापू ! ये सब भाव औदयिक-भाव हैं, बन्ध के कारणरूप हैं, ये भाव मोक्ष के कारण नहीं होते।

अनादि से सब संसारी जीवों को औदयिकभाव होता है और मोक्षदशा होने पर उसका सर्वथा अभाव होता है।

५. **पारिणामिकभाव** – आत्मा का त्रिकाली सहज एकरूप शाश्वत् स्वभाव वह पारिणामिकभाव है, वह ध्रुव द्रव्य-रूप है। उसे "परमभाव" कहा है। अन्य चार भाव क्षणिक हैं, इसलिए उन्हें "परमभाव" नहीं कहा। पारिणामिकरूप परम-स्वभाव प्रत्येक जीव को सदा विद्यमान है।

इन पाँच भावों में सर्वविशुद्ध परम पारिणामिकभाव जो शाश्वत् ध्रुव – अचल है, वह द्रव्यरूप–वस्तुरूप है,और अन्य चार भाव प्रगट पर्यायरूप हैं। उनमें तीन भाव निर्मलरूप हैं और औदयिकभाव मलिनरूप है। परस्पर सापेक्ष ऐसा द्रव्य-

पर्यायद्वयरूप आत्मा है, अर्थात् द्रव्य-पर्याय दोनों एक होकर सम्पूर्ण आत्मा-पदार्थ है। द्रव्य वह निश्चय, पर्याय वह व्यवहार तथा दोनों मिलकर प्रमाणरूप सत् वस्तु है।

द्रव्य-पर्यायरूप सम्पूर्ण पदार्थ प्रमाण का विषय है। उसमें परम पारिणामिक-स्वभावरूप त्रिकाली ध्रुवद्रव्य निश्चयनय का विषय है, और वर्तमान वर्तती पर्याय व्यवहारनय का विषय है। निश्चयनय त्रिकाली द्रव्य को स्वीकार करता है और व्यवहारनय वर्तमान वर्तती पर्याय को स्वीकार करता है। निश्चय का जो ज्ञान किया, उसके साथ पर्याय का ज्ञान मिलावें तो वह प्रमाणज्ञान है, पर निश्चय को उड़ाकर व्यवहार को मिलाये तो प्रमाणज्ञान नहीं रहता।

भाई ! तेरी वस्तु को (आत्मा को) देखने के तीन प्रकार हैं –

१. त्रिकाली ध्रुव द्रव्यरूप परमभाव को देखने वाली दृष्टि वह द्रव्यार्थिकनय है।
२. वस्तु को पर्यायरूप में देखने वाली दृष्टि वह पर्यायार्थिकनय है।
३. द्रव्य-पर्यायरूप वस्तु को समग्रपने देखने वाली दृष्टि वह प्रमाणज्ञान है।

अध्यात्मदृष्टि में शुद्ध द्रव्य, वह निश्चय है और उसको शुद्ध पर्याय द्वारा मोक्षमार्ग को साधना, वह व्यवहार है। रागादिक तो परमार्थ से अनात्मा हैं, क्योंकि वे शुद्ध आत्मा नहीं, अशुद्धभाव हैं, इसलिए शुद्ध दृष्टि में वे अनात्मा हैं। अभेद आत्मा की अनुभूति में उनका अभाव है अर्थात् शुद्धात्मानुभूति से वे (रागादि) बाह्य हैं।

देखो, शुद्ध जीव अन्तःतत्त्व है और रागादि बाह्यतत्त्व हैं। अभेद तत्त्व की अनुभूति में निर्मलपर्याय का भेद भी नहीं,

इस अपेक्षा से उसे भी बाह्यतत्त्व कहा है। नियमसार गाथा ३८ में एक शुद्ध आत्मा को ही अन्तःतत्त्व कहा है और जीवादि तत्त्वों को बाह्यतत्त्व कहा है। इसका मतलब यह कि जीवादि तत्त्वों सम्बन्धी भेदविकल्प के द्वारा शुद्ध आत्मा अनुभव में नहीं आता, इसलिए वह बाह्यतत्त्व हैं, हेय हैं। भाई ! पर्याय के भेद आदरणीय नहीं हैं, आश्रय करने योग्य नहीं हैं। एकमात्र शुद्ध त्रिकाली एक ज्ञायकतत्त्व में अभेद होकर अनुभव करना योग्य है। तथा जो अनुभव है, वह स्वयं पर्याय है,पर वह द्रव्यस्वभाव के सन्मुख होकर उसका आश्रय करती है। इस प्रकार शाश्वत शुद्ध ज्ञायक वस्तु और उसकी वर्तमान अवस्था, दोनों परस्पर सापेक्षपने सम्पूर्ण आत्मा हैं।

भाई ! तुझे दुःख मिटाकर सुखी होना है न ? तो दुःख किस भाव से है और सुख किस भाव से होता है – उसे तू जान। सुख-दुःख तेरे स्वयं के भाव से ही हैं, अन्य के कारण नहीं। बापू ! वस्तु के स्वरूप को जाने बिना अनन्त काल से तू चौरासी लाख योनियों में जन्म ले-लेकर भटक रहा है। वहाँ तू अकेला तेरे भाव से दुःखी है, कोई अन्य से नहीं। पाप के उदय में एकेन्द्रियादि में जाता है; वहाँ अकेला दुःखी है, और पुण्योदय से स्वर्गादि में जाता है तो वहाँ तू अकेला कल्पना से (वास्तविक नहीं) सुखी है, इसमें किसी को सहायता – अपेक्षा नहीं है। तथा शुद्ध अन्तःतत्त्व के आश्रय से ज्ञान-दर्शन-चारित्र-रूप परिणत होने पर मोक्षमार्ग में भी तू अकेला ही सुखी है या होगा, उसमें भी किसी पर द्रव्य का साथ या अपेक्षा नहीं है।

पर्यायरूप चार भावों में औपशमिकादि तीन भाव निर्मल हैं, मोक्ष के कारण हैं और औदयिकभाव मलिन है, बन्ध का कारण है। तथा जिसके आश्रय से निर्मलभाव प्रगट

होता है वह शुद्ध पारिणामिकभाव त्रिकाल द्रव्यरूप है। ऐसा परस्पर सापेक्ष द्रव्य-पर्याय के एकत्व रूप वह सम्पूर्ण आत्मा-पदार्थ है। अहो! यहाँ तो अमृत परोसा है। कहा भी है "अमृत वरस्या रे प्रभु ! पंचम काल में।"

"वहाँ, प्रथम तो जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ऐसे तीन प्रकार के पारिणामिक भावों में, शुद्ध जीवत्व ऐसा जो शक्ति लक्षण पारिणामिकपना वह शुद्ध-द्रव्यार्थिक नयाश्रित होने से निरावरण और 'शुद्ध पारिणामिकभाव' संज्ञावाला जानना। वह तो बन्ध-मोक्ष पर्याय रहित है।'

देखो, यहाँ जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व – ऐसा तीन प्रकार का पारिणामिकभाव कहा, वहाँ "शुद्ध" शब्द का प्रयोग नहीं किया, अर्थात् ये तीन भेद करना अशुद्ध पारिणामिक है और वह व्यवहारनय का विषय है; परन्तु वहाँ इन तीन प्रकार के भावों में शुद्ध जीवत्व ऐसा जो शक्ति लक्षण पारिणामिकपना है, वह ध्रुव त्रिकाली है और शुद्ध-द्रव्यार्थिकनयाश्रित होने से निरावरण और शुद्ध-पारिणामिकभाव संज्ञावाला जानना। अहाहा ! कितना स्पष्ट किया है ?

सम्यग्दर्शन का विषयभूत त्रिकाली ध्रुवद्रव्य, चार भावों से रहित तथा शक्ति लक्षण शुद्ध-पारिणामिकभाव है। वह शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय है और वह निरावरण है। अहाहा ! भव्य हो या अभव्य, उसमें शक्तिरूप त्रिकाल शुद्ध जीवत्व शुद्ध पारिणामिकभाव है और वह शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय का विषय होने से निरावरण है। अहा ! जिसमें चार पर्यायें नहीं उसमें आवरण कैसे ? (आवरण तो पर्याय में होता है) ऐसा जो शुद्ध चैतन्य के प्रवाहरूप चैतन्य-चैतन्य-चैतन्य, शुद्ध चैतन्य के ध्रुव प्रवाहरूप शुद्ध जीवत्व है, वह निरावरण शुद्ध पारिणामिकभाव है और

वह बन्ध-मोक्ष के परिणाम से रहित है, अर्थात् वह बन्ध-मोक्ष के परिणाम का कारण नहीं है।

कुछ लोग कहते हैं कि पर्याय में अशुद्धता हो तो द्रव्य अशुद्ध हो जाता है। उनकी इस मान्यता का इसमें निषेध हो गया। भाई ! द्रव्य तो त्रिकाल शुद्ध निरावरण ही है। आवरण है तो पर्याय में है। पहले ऐसी बात चलती नहीं थी और बाहर आई तो कितनों में खलबलाहट हो गई कि अरे ! हमारा यह सब क्रियाकाण्ड उड़ जाएगा। पर बापू ! ये तेरे हित की बात है। भाई ! चौरासी के अवतार का अन्त करके जन्म-मरण रहित होने की यह बात है।

शुद्ध जीवत्वरूप त्रिकाली शक्ति लक्षण पारिणामिकभाव की दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, यह बाद में कहेंगे। यहाँ कहते हैं – वस्तु का स्वरूप जो त्रिकाली शक्तिरूप सत् है, सत् का जो सत्व है – वह त्रिकाल निरावरण है। त्रिकाली ध्रुव शुद्ध द्रव्य में जैसे उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक, ये पर्यायरूप भाव नहीं हैं, वैसे ही उसमें आवरण भी नहीं है। एकबार सुन तो सही नाथ ! अन्दर में भगवान आत्मा 'आनन्द-ब्रह्मणोरूपं' अर्थात् ज्ञानानन्द स्वरूप की लक्ष्मी से महा प्रतापवंत त्रिकाल विराज रहा है। उसकी दृष्टि करना सम्यग्दर्शन है, जो धर्म की पहली सीढ़ी है।

अज्ञानी मानता है कि कषाय की मन्दता, व्रत, नियम आदि क्रियारूप साधन से साध्य सिद्ध होगा; परन्तु ऐसा नहीं है। कषाय तीव्र हो या मन्द, वह औदयिकभाव है और वह मलिन–विकारी परिणाम संसार का–बन्ध का कारण है, मोक्ष का नहीं। मोक्ष का कारणरूप तो औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक – ऐसे निर्मल पर्यायरूप तीन भाव हैं; और जो चारों ही भावों से रहित त्रिकाल शुद्ध पारिणामिक भाव है, वह

अक्रिय है। उसमें क्रिया नहीं है, उत्पाद-व्यय नहीं है। इसमें कुछ करना नहीं और छोड़ना नहीं है। मोक्ष करना इसमें नहीं है, राग करना इसमें नहीं, तथा राग छोड़ना भी इसमें नहीं है। अहा! ऐसा शुद्ध पारिणामिकभाव निरावरण है। उसका आश्रय लेने पर सम्यग्दर्शन आदि धर्म प्रगट होता है।

अरेरे! ऐसी बात जिसके कान में भी न पड़े वह बेचारा क्या करे? मैं कौन हूँ? मेरा क्या स्वरूप है? यह पाँच भाव किस प्रकार हैं? किस भाव से बन्धन है और किस भाव से मोक्ष का उपाय तथा मोक्ष होता है? कौन भाव शुद्ध है और कौन भाव अशुद्ध है? कौन-सा भाव आश्रय करने योग्य उपादेय है और कौन हेय है? इन्हें समझने की फुरसत न मिले वह बेचारा क्या करे? अरेरे! वह चौरासी के अवतार में कहीं डूब मरेगा। क्या करे? भाई! तुझे यह समझने का अवसर है। इसमें तू खाने-कमाने के पीछे, कुटुम्ब-परिवार को प्रसन्न रखने के पीछे और इन्द्रियों के विषय-भोगों के पीछे ही रुक जायेगा तो अवसर हाथ से चला जायेगा और तू संसार में ही परिभ्रमण करेगा।

देखो, शुद्ध पारिणामिकभाव जो त्रिकाल है, उसे भी भाव कहते हैं। पर्याय को भी भाव कहते हैं। राग भी भाव कहलाता है और द्रव्य (वस्तु) को भी भाव कहते हैं। यहाँ द्रव्य को शुद्ध पारिणामिकभाव संज्ञा दी है। उसे बन्ध-मोक्ष परिणति से रहित कहा है।

अहाहा! भगवान आत्मा त्रिकाल ध्रुव अस्तिरूप है। है, है और है। आत्मा ध्रुव ध्रुव ध्रुव ऐसा अनादि अनन्त शुद्ध चैतन्य के प्रवाहरूप है। वह बन्ध-मोक्ष की परिणति से रहित है, रागादि भाव से रहित और मोक्षमार्ग तथा मोक्ष की पर्याय से भी रहित है। अहाहा! त्रिकाल स्वभाव में पर वस्तु नहीं,

राग नहीं, मलिन पर्याय नहीं, और अपूर्ण या पूर्ण निर्मल पर्याय भी नहीं। ऐसी अपनी चीज का जिसे अन्दर दृष्टि में स्वीकार हुआ है, उसे ही शुद्ध आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। बाकी तो सब थोथा (व्यर्थ) है।

भाई ! जन्म-मरण के अन्त का उपाय यह एक ही है। दुनिया माने या न माने, दुनिया को जो रुचे वह कहे, पर सत्य तो यही है। आत्मा शुद्ध चैतन्य-महाप्रभु बन्ध-मोक्ष की पर्याय से रहित वस्तु है। उस एक के आश्रय से धर्मरूप निर्मल परिणति प्रगट होती है।

अब विशेष कहते हैं – "**परन्तु जो दशप्राणरूप जीवत्व और भव्यत्व-अभव्यत्वद्वय वह पर्यायार्थिकनयाश्रित होने से "अशुद्ध पारिणामिकभाव" संज्ञावाला है।**"

लोगों को यह समझना कठिन पड़ता है। अभी तो मैं शरीर से रहित हूँ – यह स्वीकार करना कठिन पड़ता है। पर भाई ! ये शरीर आदि की क्रिया तो इसके काल में जो होना हो वह होती है, उसमें तुम्हारा अधिकार ही नहीं है। मैं ध्यान रखूँ तो शरीर व्यवस्थित रहे, नहीं तो बिगड़ जाए – ऐसा तू मानता है, पर ऐसा कोई अधिकार तेरा शरीर पर नहीं है, क्योंकि शरीर पर वस्तु है। अहाहा ! शरीर से जुदा, राग से जुदा और एकसमय की पर्याय से भी जुदा, अन्दर में ऐसा जो त्रिकाली ध्रुवद्रव्य है, इसे ध्येय बनाना है – ऐसा यह मार्ग है। भाई ! यह अपूर्व बात है। अनन्तकाल में इसने अन्तर्दृष्टि – द्रव्यदृष्टि की ही नहीं, पर इसके बिना मात्र बाहर की क्रिया से धर्म नहीं होता।

अरे भाई ! तुझे तेरे कायमी – त्रिकाल जीवन की खबर नहीं है तो तू सच्चा जीवन किस प्रकार जियेगा ? आहार-पानी वा शरीरादि जड़ पदार्थों से तू जीवन माने, पर ये कुछ सच्चा

जीवन नहीं है। अहा ! शरीर स्वयं ही जड़ मृतक-कलेवर है तो उसके द्वारा तू कैसे जियेगा ? भाई ! अपने शुद्ध चैतन्यप्राण से त्रिकाल जिये, और शुद्ध चैतन्यस्वभाव के आश्रय से मोक्ष – स्वरूप सिद्धपद को साधकर सादि अनन्त पूर्ण आनन्दमय जीवन जिये वही जीव का सच्चा जीवन है। स्तुति में आता है कि–

तारूं जीवन खरूं जीवन, जीवी जाण्युं नेमनाथे जीवन

अहाहा ! भगवान केवली, जैसा पूर्ण वीतराग-विज्ञानमय जीवन जीते हैं, वह यथार्थ जीवन है – सच्चा जीवन है। बाकी अज्ञानपूर्वक रागादिमय जीवन जिये, उसे जीव का जीवन कौन कहे ? ये तो भयङ्कर भावमरण है। आता है न कि –

"तू क्यों भयंकर भावमरण प्रवाह में चकचूर है"

बापू ! राग से धर्म माने अर्थात् राग को जीवन माने उसे तो सच्चा जीवन जीना भी नहीं आता, उसे तो निरन्तर भावमरण ही होता रहता है। समझ में आया ...?

दशप्राणरूप जीवत्व और भव्य-अभव्यत्वद्वय पर्यायार्थिकनय के आश्रित हैं और इसलिए "अशुद्ध पारिणामिकभाव" संज्ञावाले हैं। अहो ! यह तो अकेला मक्खन[1] दिया है। दशप्राणरूप जीवत्व और भव्यत्व-अभव्यत्वद्वय – ये तीनों अवस्थादृष्टि से – पर्यायदृष्टि से – व्यवहार से कहे जाते हैं।

दशप्राणरूप जीवत्व अशुद्धप्राण है। जीव जड़प्राणों से जीता है – यह बात तो नहीं, परन्तु पाँच इन्द्रियाँ (भावेन्द्रियाँ) मन, वचन, काय, आयु और श्वांस (अन्दर जीव की योग्यतारूप) – ऐसे दशप्राणरूप अशुद्ध जीवत्व से जीव जीता है – यह भी व्यवहार से कहा है और वह "अशुद्ध पारिणामिकभाव" है। तथा भव्यत्व और अभव्यत्व भी पर्यायार्थिकनयाश्रित होने

---

१. सारभूत तत्व

से "अशुद्ध-पारिणामिकभाव" हैं। त्रिकाली ध्रुव एक चैतन्य-स्वभाव से भरी हुई, शुद्ध-परमपारिणामिकभाव स्वरूप वस्तु में यह "अशुद्ध-पारिणामिकभाव" नहीं है – ऐसा मानने में एकान्त व्यवहार के पक्षवालों को बाधा होती है। परन्तु वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है, उसमें कोई क्या कर सकता है? यहाँ तो स्पष्ट लिखा है कि दशप्राणरूप जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व, ये तीनों पर्यायार्थिकनयाश्रित होने से अशुद्ध पारिणामिकभाव संज्ञावाले हैं।

प्रश्न – ये भाव 'अशुद्ध' कैसे हैं?

उत्तर – संसारियों को शुद्धनय से और सिद्धों को तो सर्वथा ही दशप्राणरूप जीवत्व तथा भव्यत्व-अभव्यत्वद्वय का अभाव होने से ये अशुद्ध हैं।

यद्यपि पर्यायार्थिकनय से अशुद्धरूप दश भावप्राण, भव्यत्व-अभव्यत्वद्वय – ये तीनों जीव के कहे जाते हैं तथापि "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" – इस वचन से शुद्धनय से संसारी-जीव को ये तीनों भाव नहीं हैं। अहाहा वस्तु जो त्रिकाल शुद्ध एकरूप है, उस वस्तु में इनका अभाव है, और सिद्धों को दश-अशुद्ध भावप्राण सर्वथा नहीं हैं, अर्थात् पर्याय में भी नहीं है। संसारी को ये तीनों पर्यायें हैं, परन्तु वस्तु में नहीं, जबकि सिद्धों में इन तीनों का सर्वथा अभाव है। अहाहा! सिद्ध भगवान भव्य भी नहीं हैं, और अभव्य भी नहीं हैं, यह पर्याय की बात है। भव्यत्व अर्थात् मोक्ष होने लायक, मोक्ष तो हो गया इसलिए भव्यत्व का सिद्धों में अभाव है, और अभव्यों को तो मोक्ष है ही नहीं।

संसारी प्राणी को शुद्धनय से देखें तो उसमें दशभाव-प्राण नहीं हैं। पाँच भावेन्द्रियाँ, मन, वचन, कायके निमित्त से

कम्पनदशा, शरीर में रहने की योग्यतारूप आयु और श्वासोच्छ्वास होने की पर्याय की योग्यता – ये दश-अशुद्ध भावप्राण शुद्धनय से सभी संसारी जीवों के नहीं हैं। और सिद्धों को तो दशप्राणरूप जीवत्व सर्वथा नहीं है। उसी प्रकार भव्यत्व-अभव्यत्व का भी सिद्ध भगवान के अभाव है, क्योंकि उन्हें साक्षात् मोक्षदशा है, अतः वहाँ मोक्ष होने की योग्यतारूप भव्यत्व कहाँ रहा ? और अभव्य को तो मोक्ष है ही कहाँ ? इसप्रकार भव्यत्व-अभव्यत्व को भी भेदरूप व्यवहार जानकर अशुद्ध-पारिणामिकभाव कहा है।

आत्मा का सच्चा प्राण और उसका सच्चा जीवन तो शुद्ध-चेतना है, इसके दशप्राण कहना तो व्यवहार से है। इनसे कुछ आत्मा का परमार्थ जीवन नहीं है। इनके बिना भी आत्मा जी सकता है। देखो, सिद्धों को पहले (संसारदशा में) दशप्राण थे, पर अभी तो वह सर्वथा ही नहीं हैं, द्रव्य गुण में तो पहले से ही नहीं थे, अब पर्याय में भी उनका अभाव हो गया है। अहो ! भगवान सर्वज्ञदेव का कहा हुआ तत्व परम अलौकिक है। भाई ! द्रव्य-पर्याय का तथा पाँच भावों का स्वरूप समझाकर आचार्यदेव ने मोक्ष का उपाय बताया है। वीतरागी सन्तों ने महान्-महान् उपकार किया है।

अब कहते हैं – **'उन तीनों में, भव्यत्वलक्षण पारिणामिक को तो यथासम्भव सम्यक्त्वादि जीव गुणों का घातक "देशघाती और सर्वघाती" नामवाला मोहादि कर्मसामान्य पर्यायार्थिकनय से ढांकता है – ऐसा जानना।'**

देखो, दशभावप्राणरूप अशुद्ध जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व, इन तीन में, मोक्ष होने की योग्यतारूप भव्यत्वलक्षण पारिणामिकभाव है। उसे सम्यक्त्वादि गुणों का घातक 'देशघाती' और 'सर्वघाती' नामवाला मोहादिकर्मसामान्य पर्यायार्थिकनय

से ढांकता है। यहाँ द्रव्यघातीकर्म न लेकर भावघातीकर्म ढांकता है, ऐसा समझना। द्रव्यघाती कर्म जड़ है, बाह्य निमित्त है। सम्यक्त्वादि जीवगुणों का घातक तो अन्दर में मोहादि भाव-घातीकर्म है और वह भव्यत्वलक्षण पारिणामिक भाव को ढांकता है – ऐसा पर्यायार्थिकनय से जानना।

अहा ! यह तो सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर की वाणी में से सार-सार मक्खन निकालकर आचार्यदेव ने जगत को जैन-दर्शन का रहस्य दिया है। भव्यत्वलक्षण पारिणामिकभाव को पर्यायार्थिकनय से सम्यक्त्वादि गुणों का घातक 'देशघाती-सर्व-घाती' नामवाला मोहादिकर्मसामान्य पर्यायार्थिनय से ढांकता है। अर्थात् आच्छादन पर्याय में है, शुद्ध वस्तु में नहीं। वस्तु शुद्ध पारिणामिकभावरूप सदा निरावरण एकरूप है। शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय से इसमें ढांकना या उघाड़ना ऐसा कुछ है ही नहीं। अहाहा ! आत्मा आनन्दकन्द प्रभु त्रिकाल निरावरण है। उसमें ढांकना या उघड़ना कहाँ है ? है ही नहीं।

परमात्मप्रकाश में कहा है कि –

आनन्दं ब्रह्मणो रूपं निजदेहे व्यवस्थितम्।
ध्यान हीना न पश्यन्ति जात्यन्धा इव भास्करम् ॥

अहाहा ! निज देह में भगवान सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा (भिन्न) विराजता है। उसे ध्यान रहित पुरुष नहीं देख सकता। जैसे सूर्य सदा विद्यमान है, उसे जात्यन्ध पुरुष (जन्म से अन्धा) नहीं देख सकता, वैसे जिसको आत्मा का लक्ष्य नहीं है, वह आत्मा को नहीं देख सकता।

अन्धे से किसी ने पूँछा – "भैया ! सूर्य है कि नहीं ?" तब वह बोला – "जिसे कभी नजर से देखा नहीं, वह है – ऐसा कैसे कहूँ ?" महा प्रतापवन्त उज्ज्वल प्रकाश का गोला सूर्य अन्धे को नहीं दिखता। जात्यन्ध है न ! वैसे आत्मा चैतन्यसूर्य

प्रभु सदा अन्दर विराजता है, परन्तु इसकी दृष्टि (सम्यदर्शन) बिना, इसके ध्यान बिना वह नहीं दिखता। जैसे जात्यन्ध को सूर्य नहीं दिखता, वैसे राग और पर्याय की रुचिवाले जन्मान्ध को चैतन्यचमत्कार प्रभु आत्मा नहीं दिखता अर्थात् उसका आत्मा पर्यायार्थिकनय से भावघाती आवरण द्वारा ढंक गया है।

"वहाँ, जब कालादिलब्धि के वश भव्यत्वशक्ति की व्यक्ति होती है, तब यह जीव सहज शुद्ध पारिणामिकभाव लक्षण परमात्मद्रव्य के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप पर्यायों में परिणमित होता है। वह परिणमन आगम भाषा से "औपशमिक", "क्षायोपशमिक" तथा "क्षायिक" ऐसा भावत्रय कहलाता है, और अध्यात्मभाषा से "शुद्धात्माभिमुख परिणाम", "शुद्धोपयोग" इत्यादि पर्यायसंज्ञा पाता है।

देखो, यहाँ कालादि पाँच लब्धियों की बात की है, अकेली काल की बात नहीं की, काललब्धि, पुरुषार्थ, स्वभाव भवितव्यता और उसी समय निमित्त (कर्म के उपशमादि) इस-प्रकार पाँचों समवाय एक साथ ही होते हैं।

प्रश्न – कलश टीका में (कलश चार में) कहा है कि सम्यक्त्व वस्तु यत्नसाध्य नहीं, सहजसाध्य है। इसका क्या आशय है?

समाधान -- वहाँ काललब्धि की मुख्यता से बात की है। सम्यग्दर्शन-पर्याय भी स्वयं सहज ही है – ऐसा वहाँ कहना है, परन्तु पाँचों समवाय वहाँ उसी काल में एक साथ ही होते हैं। अनेक स्थान पर पुरुषार्थ की मुख्यता से बात करते हैं। वहाँ सम्यक्त्व प्रयत्न से (पुरुषार्थ से) सिद्ध होता है – ऐसा कहना है। यह तो विवक्षाभेद है, परन्तु कार्यकाल में पाँचों समवाय एक साथ होते हैं।

चैतन्यमूर्ति प्रभु आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द का रसकन्द है। अहाहा ! आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का दरिया है। इसके सिवा तीनकाल-तीनलोक में आनन्दरूप वस्तु अन्य कोई नहीं है। पर अज्ञानी जीव अपने आनन्द स्वभाव को भूलकर बाहर में अन्यत्र आनन्द मानता है। कोई मेरा बखान करे तो अच्छा लगे, मुझे कोई बड़ा कहे तो अच्छा लगे, कोई मुझे ज्ञानी-पण्डित कहे तो अच्छा लगे – इसप्रकार वह अनेक तरह की मिथ्या कल्पना करता है। परन्तु भाई ! तेरा आनन्द बाहर में कहीं नहीं है, तू स्वयं ही तेरे आनन्द की ध्रुव खान है। अहा ! अपनी ऐसी चीज को पाने के लिए जब यह जीव काललब्धि के वश (काललब्धि आने पर) स्वभाव की रुचि करता है तब अन्त:पुरुषार्थ जगता है, काललब्धि पकती है, भवितव्य – जो प्रगट होने योग्य है (सम्यक्त्व) वह होता है, और तब कर्म के उपशमादि भी होते हैं। इसप्रकार पाँचों समवाय एक ही साथ होते हैं।

पहले अनादि से मोहकर्म के वश होकर परिणमित होने वाले जीव के अपने सम्यक्त्वादि गुणों का घात होता था अर्थात् मोक्ष के कारणरूप तीन भाव उसे नहीं थे। अज्ञानदशा में मिथ्यात्वादि सर्वघाती और देशघाती-कर्म उसके सम्यक्त्वादि गुणों के घातने में – ढाँकने में निमित्त होते थे। पर अब सद्-गुरु के उपदेश का निमित्त पाकर जब शुद्ध पारिणामिक परम स्वभावभाव के सन्मुख होकर उसकी भावना रूप परिणमित हुआ, तब मोक्ष के कारणरूप औपशमिकादि भाव प्रगट होते हैं, उसे पुरुषार्थ, स्वकाल, कर्म के उपशम आदि पाँचों लब्धियाँ प्रगट हो जाती हैं और यही भव्यत्वशक्ति की व्यक्ति है। भव्यत्व उस जीव में पहले से ही था, पर जब निजस्वभाव का भान हुआ, तब वह पाक रूप होकर परिणमा, मोक्ष की जो

योग्यता थी, वह तब कार्य में व्यक्त हुई, और अब अल्पकाल में मोक्षदशा प्रगट हो जाएगी।

अहो ! ये तो कोई अद्भुत अलौकिक बातें हैं। आचार्यदेव कहते हैं – जब कालादि लब्धियों के वश से भव्यत्व शक्ति की व्यक्ति होती है, तब जीव सहज-शुद्ध पारिणामिक लक्षण निज परमात्मद्रव्य के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरणरूप पर्याय में परिणमित होता है।

नियमसार में (गाथा १५७ में) आता है कि –

निधि पा मनुज तत्फल वतन में गुप्त रह ज्यों भोगता।
त्यों छोड़ परजन-संग ज्ञानी, ज्ञान निधि को भोगता॥

जैसे कोई दरिद्र मनुष्य निधि को पाकर अपने वतन में गुप्तरूप से रहकर उसका फल भोगता है, वैसे ज्ञानी पर-जनों के संग को छोड़कर स्वरूप में गुप्त रहकर ज्ञान-निधि को भोगता है। इसकी टीका में कहा है –

"सहज परम तत्वज्ञानी जीव क्वचित् आसन्नभव्य के (आसन्नभव्यतारूप) गुणों का उदय होने से सहज वैराग्य सम्पत्ति होने पर, परमगुरु के चरणकमलयुगल की निरतिशय (उत्तम) भक्ति द्वारा मुक्ति सुन्दरी के मुख के मकरन्द समान सहज ज्ञान-निधि को पाकर स्वरूपविकल[1] ऐसे पर-जनों के समूह को ध्यान में विघ्न का कारण समझकर छोड़ता है।"

जैसे किसी दरिद्री को भाग्यवश करोड़ों की निधि मिल जाय तो वह अपने वतन में जाकर उसे गुप्त रूप से अकेला भोगता है। हे भाई ! तुझे जो परम अद्भुत ज्ञान-निधि प्राप्त हुई है, तो उसे अकेले (स्वरूपगुप्त) रहकर भोगना। अर्थात्

१. स्वरूपविकल=स्वरूप प्राप्ति रहित; अज्ञानी।

किसी के साथ वाद-विवाद न करना । जगत में स्वसमय और परसमय ऐसे अनेक प्रकार के जीव हैं । उनके साथ वाद-विवाद में नहीं पड़ना, क्योंकि वाद-विवाद से स्वरूप की ऐसी बात समझ में नहीं आती । नियमसार गाथा १५६ में यही कहा है कि –

णाणा जीवा णाणा कम्मं णाणाविहं हवे लद्धी ।
तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो ॥

नानाप्रकार के जीव हैं, नानाप्रकार के कर्म हैं, नानाप्रकार की लब्धियाँ हैं, इसलिए स्वसमय और परसमय के साथ (स्वधर्मियों और परधर्मियों के साथ) वचन-विवाद छोड़ने योग्य है ।

लोग कहते हैं कि समाज में विघटन हो गया है, हम उसका संगठन करना चाहते हैं । परन्तु भाई ! भगवान जिनेश्वर का यह मार्ग ऐसे (वाद-विवाद करने से) समझ में नहीं आता । वाद-विवाद में तुझे एक को सच्चा और एक को झूँठा करना है, परन्तु वहाँ तू एकबात करने जाएगा, तो वह दूसरी बात करेगा कि "व्यवहार को शास्त्र में साधन कहा है, तो तुम क्यों नहीं कहते हो ? तुम एकान्त हठ करते हो ।" बापू ! ऐसे इस बात का अन्त नहीं आएगा । वीतरागभाव से धैर्य से स्वयं समझना चाहे, तो पार पावे, परन्तु तुम खोटे और हम सच्चे हैं – ऐसा सिद्ध करने के लिए बातचीत करने से विवाद होता है, और विवाद से पार पड़े (समझ में आवे) ऐसी यह चीज नहीं है । अरे ! अन्दर तेरा सत् ऐसा है कि इसका काल पका हो और पुरुषार्थ करके तू स्वभाव का भान करे तो सहज ही यह समझ में आए – ऐसी चीज है । वाद-विवाद से कोई समझ सके – ऐसी यह बात नहीं है ।

समाधिशतक में आता है – अरे ! मैं किसे समझाऊँ ? मैं जिसे समझाना चाहता हूँ, वह समझने वाला आत्मा, तो आँख से मुझे दिखता नहीं, और यह जो दिखता है, वह तो जड़ (शरीर) है, उसे मैं क्या समझाऊँ ? इसलिए मेरा समझाने का विकल्प तो पागलपन है, चारित्रदोष है । अहाहा ! बापू ! यह तो दिगम्बर सन्तों की वाणी है । उसमें कहते हैं कि वाणी से तुझे ज्ञान हो – ऐसा तू नहीं है । अहो ! सन्तों की यह अलौकिक चमत्कारिक बात है ।

यहाँ कहते हैं – जब कालादिलब्धि के वश से भव्यत्व शक्ति की व्यक्ति होती है, तब यह जीव सहज शुद्ध पारिणामिक भाव लक्षण निज परमात्मद्रव्य के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरण पर्यायरूप परिणमित होता है । यहाँ 'कालादिलब्धि के वश से' कहा है, परन्तु स्वभाव के वश से, पुरुषार्थ के वश से –ऐसे सभी समवाय साथ में लेना । अकेले काल की यह बात नहीं है, पर इसमें पाँचों समवाय की बात है । अहा ! जब मोक्षमार्ग की प्राप्ति का काल आता है, तब इसकी दृष्टि सहज शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव पर जाती है और तभी उसे अन्दर में सम्यग्दर्शन प्रगट होता है ।

अहाहा ! आत्मद्रव्य एक सहज शुद्ध परम पारिणामिक-भाव लक्षण सदा परमात्मस्वरूप चिन्मात्र वस्तु है । ऐसे निज परमात्मद्रव्य के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरणरूप पर्याय में जीव परिणमे, इसका नाम धर्म है और इसी का नाम मोक्ष का मार्ग है । देखो ! देव-शास्त्र-गुरु का भेदरूप श्रद्धान, ये कुछ वास्तविक श्रद्धान नहीं है, और शास्त्र का ज्ञान वह कोई वास्तविक सम्यग्ज्ञान नहीं है, पर अपने अन्दर शुद्ध चैतन्यमूर्ति प्रभु कारण परमात्मा सदा विराज रहा है, उसके सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनु-

चरण पर्यायरूप परिणमना, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है और वही सत्यार्थ मोक्षमार्ग है।

प्रश्न – आप कारणपरमात्मा-कारणपरमात्मा कहते हैं, यदि कारण हो तो कार्य होना चाहिए न ?

उत्तर – भाई ! कारणपरमात्मा तो अन्दर त्रिकाल एक ज्ञायकस्वभावपने विराज रहा है, पर इसे अन्तरमुखपने प्रतीति में आवे, तब 'मैं कारणपरमात्मा हूँ' – ऐसा भान हो। प्रतीति में आए बिना इसे कारणपरमात्मा कहाँ है ? जिसे भगवान पूर्णानन्दस्वरूप निज परमात्मद्रव्य का सम्यक्श्रद्धान हो उसे "मैं कारणपरमात्मा हूँ" – ऐसा भासित होता है और उसे कार्य (कार्यपरमात्मा) प्रगट होता है। जो एक समय की पर्याय और राग की श्रद्धा में अटका है, उसे कारणपरमात्मा कैसे भासे ? उसे कार्य कहाँ से प्रगट हो ?

समयसार की १७-१८ गाथा की टीका में आया है कि आबालगोपाल सब आत्माओं को वर्तमान ज्ञानपर्याय में निज परमात्मद्रव्य ही भासता है, पर अज्ञानियों की दृष्टि वहाँ नहीं है। अहा ! सम्पूर्णद्रव्य अपने ज्ञान में जानने में आए, ऐसी अपनी चीज है, क्योंकि ज्ञान की पर्याय का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव है। परन्तु इसकी (अज्ञानी जीव की) दृष्टि स्व के ऊपर नहीं, पर के ऊपर है, पर्याय और राग पर है। इसलिए जो निज परमात्मद्रव्य जानने में आता है, उसका वह अनादर करता है और राग तथा अंशमात्र मैं हूँ – ऐसा मानता है, अतः उसे कार्य कैसे प्रगटे ?

समयसार कलश टीका में आता है – जैसे ढंकी हुई निधि प्रगट की जाती हैं, वैसे कर्म संयोग से ढंका हुआ और भावमरण को प्राप्त जीवद्रव्य, परमगुरु तीर्थङ्कर परमात्मा के उपदेश द्वारा भ्रान्ति मिटने से प्रगट किया जाता है। स्वभाव से तो जीव-

द्रव्य प्रगट ही है। कर्मसंयोग से भिन्न शुद्ध जीवस्वरूप का अनुभव करना सम्यक्त्व है। जो आत्मा को एक समय की पर्याय और राग जितना मानता है, उसका आत्मा मरण को (भावमरण को) प्राप्त हो रहा है, क्योंकि उसने जीवन्त ज्योति निज परमात्मद्रव्य के सम्मुख होकर उसका स्वीकार नहीं किया। मात्र राग और वर्तमान पर्याय को स्वीकार करने वाला जीव मरण को प्राप्त हो रहा है। ग्यारह अंग और नवपूर्व का उघाड़ (क्षयोपशम) भले हो, परन्तु जो उस विकास में सन्तुष्ट होकर रुक गया है, वह जीव स्वभाव को भूलकर मरण को प्राप्त हो रहा है। अरे! अनन्तकाल में इस जीव ने स्वभाव की दृष्टि की ही नहीं।

त्रिकाल आनन्दस्वरूप परमात्माद्रव्य के श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरणरूप पर्याय में परिणमन भव्यत्व शक्ति की अर्थात् मोक्ष-मार्ग की योग्यतारूप शक्ति की व्यक्ति है, और वह धर्म है। अरे! अन्दर में यह स्वयं भगवान स्वरूप है, परन्तु इसने इसके गीत भी कभी सुने नहीं। पर भाई! यदि अन्दर शक्ति से भगवानस्वरूप न हो तो पर्याय में आएगा कहाँ से? बाहर में तो कुछ है नहीं? बाहर में तो तू भगवान की भक्ति करे, पूजा करे या सम्मेद शिखर की यात्रा करे, पर इससे धर्म हो – ऐसा धर्म का स्वरूप नहीं, क्योंकि ये तो मात्र शुभराग है। यहाँ शुभ छोड़कर अशुभ करना – यह बात नहीं है। धर्मी को विशेष शुभभाव आता है, वह धर्म या धर्म का कारण नहीं है। धर्म का कारण तो स्वद्रव्य के आश्रय से परिणमना है। अरे भाई! तू एकबार उसे देखने की भावना तो कर।

देखो! जैसे राजा की रानी परदे में ढंकी रहती है और लोग उसे देखने के लिए उत्सुकता से उमड़ पड़ते हैं, वैसे भगवान

आत्मा अनादिकाल से पर्यायबुद्धि और राग के परदे में ढंका है। उसे देखने की उत्सुकता से अन्तरमुख होकर प्रयत्न तो कर। भाई! तेरे दुःख का नाश करने का एकमात्र यही उपाय है।

ओहो! आत्मा पूर्णानन्द का नाथ प्रभु सदा परमात्मस्वरूप में अन्दर प्रगट मौजूद है। अरे! तू उसे भूलकर बाहर से सुख प्राप्त करने के लिए झपट्ठे मारता है। यहाँ से सुख लूँ, कि वहाँ से सुख लूँ; राजपद में से सुख लूँ कि देवपद में से सुख लूँ – ऐसे तू झपट्टे मारता है। पर सुख निधान तो तू स्वयं ही है न प्रभु। इसलिए ऐसा भिखारीपना – रंकपना छोड़ दे, और अन्दर में अपने परमात्मद्रव्य को देख, जिससे सहज शुद्ध चिदानन्दमय परमात्मद्रव्य की प्रतीति होकर निराकुल सुख की प्राप्ति होगी।

यहाँ, कालादि लब्धि के वश से भव्यत्वशक्ति की व्यक्ति होती है – ऐसा कहा है, इसमें अकेला काल वा अन्यरूप काल न लेना, पर पाँचों समवाय एकसाथ ही हैं – ऐसा यथार्थ समझना। मोक्षमार्ग की प्राप्ति का काल हो, तब –

१. चिदानन्दघनस्वभाव ऊपर दृष्टि जाती है – यह स्वभाव समवाय हुआ।

२. चिदानन्दघनस्वभाव की दृष्टि स्वभावसन्मुखता का पुरुषार्थ है। इसमें पुरुषार्थ नाम का समवाय आया।

३. उसी समय निर्मल पर्याय होने का ज्ञान हुआ – यह काललब्धि नाम का समवाय हुआ।

४. उस काल में जो निर्मल पर्याय होने वाली थी, वही हुई – इसमें भवितव्य नाम का समवाय हुआ।

५. तब प्रतिकूल निमित्त का अभाव हुआ – इसमें निमित्त नाम का समवाय आया।

इसप्रकार पाँचों समवाय एक साथ ही होते हैं – ऐसा जानना।

वस्तुत: जिसे जिस काल में जो पर्याय होना हो, उसे उस काल में वही पर्याय होती है। सम्यग्दर्शन पर्याय भी अपने जन्मक्षण में उत्पन्न होती है। उस पर्याय की उत्पत्ति का वह नियत काल है। प्रवचनसार गाथा १०२ में पर्याय के उत्पन्न होने के जन्मक्षण की बात आती है। यह बहुत सूक्ष्म बात है भाई! यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर के घर की बात है बापू! अरे! लोगों को यह बात सुनने को भी नहीं मिलती और ऐसे ही नपुन्सक की तरह जिन्दगी चली जाती है, क्या करे?

ये करोड़पति और अरबपति सब बड़े नपुन्सक हैं। क्या कहा? हम यह करते हैं, हम वह करते हैं – इसप्रकार राग और पुण्य-पाप के विकार को रचने में जिसने वीर्य को रोका है, परमात्मा उन्हें महा नपुन्सक कहते हैं। देखो, परपदार्थ की रचना तो कोई कर नहीं सकता, क्योंकि जगत के पदार्थ सब स्वतन्त्र हैं, परन्तु जो वीर्य पुण्य-पाप को रचे, शुभाशुभ राग को रचे वह नपुन्सक वीर्य है। क्यों?, क्योंकि उससे धर्म की प्रजा उत्पन्न नहीं होती। जैसे नपुन्सक के सन्तान नहीं होती, वैसे जो वीर्य शुभाशुभभाव की रचना की रुचि में पड़ा है, उससे धर्म की सन्तान उत्पन्न नहीं होती। अभी तक ऐसी बात दुनिया को सुनने नहीं मिली। भाई! यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर की कही हुई परम सत्य बात है।

विभाव में से रुकने वाला वीर्य जब स्वभावसन्मुख हुआ, तब उसमें भव्यत्व शक्ति की व्यक्ति होती है। जैसे – लेण्डी-पीपल रङ्ग में काली और कद में छोटी होती है, पर उसमें चौंसठ पुटी अर्थात् पूर्ण सोलह आने तीखास अन्दर में शक्तिरूप से भरी है। उसे घोंटने से उसमें से चौंसठ पुटी तीखास बाहर

प्रगट होती है । भाई ! जो शक्ति है, वह प्रगट होती है, प्राप्त की प्राप्ति है । लकड़ी या कोयला घोंटने से तीखास प्रगट नहीं होती, उसमें तीखास है ही नहीं तो प्रगट कहाँ से होगी ? वैसे ही भगवान आत्मा अन्दर में चौंसठ पुटी अर्थात् सोलह आने पूर्ण ज्ञान और आनन्द के स्वभाव से भरा हुआ सत्व है । उस स्वभाव के सन्मुख होकर परिणमन करने से शक्ति की निर्मल व्यक्ति होती है । अन्दर शक्ति तो विद्यमान है ही, उस शक्ति के सन्मुख होकर, जब उसका स्वीकार, सत्कार और आदर किया तब वह तत्काल पर्याय में व्यक्तरूप से प्रगट होती है । इसका नाम धर्म और मोक्षमार्ग है ।

अहाहा ! जब कालादिलब्धि के वश से भव्यत्वशक्ति की व्यक्ति होती है, तब यह जीव शुद्ध पारिणामिकभाव लक्षण निज परमात्मद्रव्य के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरणरूप पर्याय से परिणमित होता है,वह परिणमन आगम भाषा से 'औपशमिक', 'क्षायोपशमिक' तथा 'क्षायिक ऐसा भावत्रय कहलाता है, और अध्यात्म भाषा से 'शुद्धात्माभिमुख परिणाम', 'शुद्धोपयोग' इत्यादि पर्याय संज्ञा पाता है ।

देखो, स्वभाववान वस्तु लक्ष्य है और शुद्ध स्वभावभाव लक्षण है । आत्मा एक ज्ञायकभावमात्र वस्तु सहज शुद्ध पारिणामिक भाव लक्षण परमात्मद्रव्य है । वस्तु बहुत सूक्ष्म है, प्रभु ! इसे ज ने बिना तू अवतार (जन्म-मरण) कर करके अनन्त काल से भटक रहा है । अरे ! अनन्तबार जैन साधुपना धारण किया, महाव्रत पाले, दया पाली, स्त्री-पुत्र, दुकान-धन्धा छोड़ा, पर भ्रांति न छोड़ी, आत्मज्ञान न किया । मैं राग और अल्पज्ञदशा रूप नहीं हूँ, मैं तो पूर्ण वीतराग-सर्वज्ञस्वभावी सहज शुद्ध पारिणामिकभाव लक्षण परमात्मद्रव्य हूँ – ऐसी अन्तरमुख दृष्टि नहीं की ।

अहाहा ! आत्मा सहज शुद्ध पारिणामिकभाव लक्षण परमात्मद्रव्य है। बापू ! यह तो जहर उतारने के मन्त्र हैं। जैसे सर्प काटे और जहर चढ़े, तो वह मन्त्र द्वारा उतर जाता है, वैसे यह अनादि से चढ़े हुए राग में एकत्वबुद्धि का जहर उतारने का मन्त्र है। यह पुण्यभाव और पुण्य फल में जो धूल (पैसा आदि) मिलती है, वह मेरी है – ऐसी मान्यता भ्रान्ति है, मिथ्यात्व के जहर ने इसके सहज शुद्ध स्वभाव का घात किया है।

प्रश्न – तो क्या कर्मों ने घात किया है – ऐसा नहीं है ?

उत्तर – नहीं, कर्मों ने घात किया ही नहीं। पूजन में आता है कि –

कर्म बिचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई।
अग्नि सहे घनघात, लौहकी संगति पाई॥

भाई ! कर्म के रजकण तो जड़ हैं, अन्य चीज हैं, वे तो आत्मा को छूते ही नहीं, फिर उसका घात कैसे कर सकते हैं ? अपने स्वभाव की विपरीत मान्यता, स्वभाव का घात करने वाली चीज है और उसे मिथ्यात्व कहते हैं। अब यह जीव ऐसी बात समझने में तो रुकता नहीं और कमाने-धमाने में समय गवां देता है। पर इसमें क्या है ? पुण्योदय हो तो करोड़ों रुपये कमाये, पर ये तो धूल की (पुण्य को) धूल है। समझ में आया····?

भाई ! यहाँ तो आचार्यदेव तेरा सत्यार्थ स्वरूप बताते हैं। जैसे सकरकन्द के ऊपर जो पतली लाल छाल है, उसे नजर में न लो तो अन्दर अकेली सकर की मिठास का पिण्ड है। सकर की मिठास का पिण्ड है इसलिए तो इसे सकरकन्द कहा जाता है। वैसे भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु के ऊपर, पर्याय में शुभाशुभभाव रूप लाल छाल को लक्ष्य में न लो तो आत्मा अकेला ज्ञानानन्दरूप अमृतरस का पिण्ड है। अहाहा ! शुभा-

शुभभाव रूप लाल छाल के पीछे अन्दर अकेला ज्ञानानन्दरस का दरिया भरा है। ऐसा पूर्ण परमात्मस्वरूप इसे कैसे बैठे? भाई! जो पर्याय में परमात्मा हो गये उनकी यह बात नहीं है, यह तो अन्दर स्वभावरूप निज परमात्मद्रव्य की बात है। तीर्थङ्करादि पर परमात्मा का लक्ष्य करेगा तो तुझे राग ही होगा। 'परदव्वाओ दुग्गइ' – ऐसा शास्त्रवचन है। परद्रव्य के प्रति लक्ष्य जाना दुर्गति है भाई!

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि, व्यवहार से निश्चय होता है? परन्तु उनकी मान्यता यथार्थ नहीं है। दया, दान, व्रत, भक्ति इत्यादि के परिणाम द्वारा पुण्यबन्ध होता है, धर्म नहीं। शुभराग – मन्दराग का परिणाम धर्म का कारण नहीं है। शुभराग धर्म नहीं है और धर्म का कारण भी नहीं है।

प्रश्न – शास्त्र में शुभ राग को मोक्ष का परम्परा कारण कहा है?

उत्तर – हाँ, कहा है, पर इसका अर्थ क्या है? जिसे अन्तर में चिदानन्दघन सहज शुद्ध पारिणामिकभाव लक्षण निज परमात्माद्रव्य का भान वर्त रहा है, ऐसे धर्मी जीव को शुभ के काल में अशुभ (मिथ्यात्वादि) टल गया है, और क्रम से बढ़ते हुए अन्तःपुरुषार्थ और वीतराग-भाव के कारण वह शुभ को भी टाल देता है, इस अपेक्षा से इसके शुभ राग को मोक्ष का परम्परा कारण कहा है। यहाँ वास्तव में तो क्रम से बढ़ती हुई वीतरागता ही मोक्ष का परम्परा कारण पर उस-उस काल में अभावरूप होता हुआ शुभराग ऐसा होता है, उसका ज्ञान कराने के लिए उपचार से उसे मोक्ष का परम्परा कारण कहा गया है। वास्तव में तो वह मोक्ष का कारण या परम्परा कारण नहीं है, यथार्थ में तो राग अनर्थ का ही कारण है, वह अर्थ का (हित का) कारण कैसे हो सकता है?

कभी नहीं हो सकता। ऐसी बात है भाई ! जगत माने या न माने, सत्य तो यही है।

अरे ! यह जीव अनादि काल से भटक रहा है। अपना सत् कितना महान् और कितनी सामर्थ्य वाला है, इसकी इसे खबर नहीं। यहाँ कहते हैं – भगवान ! तुम स्वयं सहज शुद्ध पारिणामिकभावलक्षण परमात्मद्रव्य हो। बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा – ये तो पर्याय की बात है, यह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो स्वयं शुद्ध-बुद्ध-चैतन्यघन त्रिकाली ध्रुव परमात्म-द्रव्य की बात है। अरे ! अनन्तकाल में इसे आत्मा का प्रमाण अर्थात् माप करना भी नहीं आया, इसका मापदण्ड ही खोटा है।

एक बार एक छोटे से बालक का पिता ५० हाथ का कपड़े का थान घर लाया। बालक को लगा कि मैं इसे मापूँ, उसने अपने हाथ से कपड़ा मापा और पिता से कहा – "बापूजी, यह कपड़े का थान तो १०० हाथ का है।" तब उसके पिता ने समझाया कि – बेटा ! यह तेरे छोठे से हाथ का माप हमारे व्यापार के काम में जरा भी नहीं चलेगा। इसी-प्रकार परम पिता सर्वज्ञ परमेश्वर कहते हैं – भाई तू अपनी कल्पना से चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा का माप करता है, परन्तु मोक्ष के मार्ग में तेरा यह माप नहीं चलेगा। तेरे कुतर्क से भगवान चैतन्यमूर्तिस्वरूप आत्मा का माप नहीं निकलेगा। अरे ! धर्म के बहाने व्रत, भक्ति, पूजा, दया, दान आदि शुभराग में रुककर लोग उल्टे रास्ते चले गए हैं। अशुभभाव से बचने के शुभभाव होता जरूर है, पर वह भाव धर्म या धर्म का कारण नहीं है।

सहज शुद्ध निजपरमात्मद्रव्य का अन्तःश्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। क्या कहा ? देव-शास्त्र-गुरु की भेदरूप श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन नहीं है, क्योंकि वह तो राग है। "अप्पा सो

परमप्पा" अर्थात् भगवान आत्मा अन्दर सदा परमात्मस्वरूप में विराजता है, उसके सन्मुख होकर जैसी और जितनी चीज है, वैसी और उतनी इसकी प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है। वर्तमान ज्ञान की पर्याय में त्रिकाली द्रव्य को ज्ञेय बनाकर मैं यह (शुद्ध-बुद्ध-चैतन्यघन परमज्योति सुखधाम) हूँ – ऐसी प्रतीति करना, इसका नाम अन्तःश्रद्धान है। इसी को आत्मा का अन्तःश्रद्धान कहो, रुचि कहो कि सम्यग्दर्शन कहो – एक ही बात है। समझ में आया······?

वर्तमान ज्ञान की पर्याय में त्रिकाली द्रव्य को ज्ञेय बनाने पर निज परमात्मद्रव्य का जो परिज्ञान हुआ, उसका नाम सम्यग्ज्ञान है। अनेक शास्त्रों का ज्ञान (पढ़ाई) वह सम्यग्ज्ञान नहीं, क्योंकि ये तो परलक्षी ज्ञान है। स्वयं अन्तर में भगवान आत्मा पूर्ण एक ज्ञानस्वभावी परमात्मद्रव्य है। उसके सन्मुख होने पर "मैं यह हूँ" – ऐसा ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है। दशा में भले राग हो, अल्पज्ञता हो, परन्तु वस्तु स्वयं अन्दर पूर्ण परमात्मस्वरूप है। ऐसा अपना परमात्मस्वरूप का ज्ञान होना उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। वीतराग का मार्ग लौकिक मार्ग से कहीं मेल न खाए – ऐसा है।

ओहो ! 'निज परमात्मद्रव्य का सम्यक्श्रद्धान' – ऐसा कहकर एक समय की पर्याय, राग या देव-शास्त्र-गुरु कोई इसके श्रद्धान का विषय ही नहीं – ऐसा सिद्ध किया है। गजब बात है। भाई ! जैसा अपना त्रिकाली सत् है, वैसा उसका श्रद्धान-ज्ञान होना, उसे यहाँ सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान कहा है।

निजपरमात्मद्रव्य का अनुचरण चारित्र है। महाव्रतादि पालना चारित्र नहीं, क्योंकि यह तो राग है। चिदानन्दघन स्वरूप में चरना - रमना इसका नाम सम्यक् चारित्र है। ओहो ! अन्दर पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप आनन्द का नाथ विराजता है, उसे

अनुसरण कर के उसमें चरना, उसमें रमना और उसमें ही ठहरना इसे आत्मचरण अर्थात् सम्यक्चारित्र कहते हैं।

पहले अनन्तकाल में कभी जानी नहीं – ऐसी यह अपूर्व बात है। भाई ! तू एक बार रुचि से सुन। जिसने अन्तर में आत्मा देखा है, 'मैं यह हूँ' – ऐसे प्रतीति में लिया है, ऐसा समकिती धर्मी पुरुष इसे ही (आत्मद्रव्य को ही) अनुसरण करके इसमें रमें, इसका नाम सम्यक्चारित्र है। जिसने अपने अन्तःतत्त्व को जाना नहीं, श्रद्धा नहीं की, वह रमे तो रमे किस में ? वह राग में और वर्तमान पर्याय में रमेगा, और यह तो मिथ्यात्वभाव है। कोई महाव्रत का भाव पालकर इसे धर्म माने, पर बापू ! इसमें धर्म मानना मिथ्यात्वभाव है। बहुत कठिन बात है, पर क्या करें ? वस्तुस्वरूप ही ऐसा है।

जैसे, सोना एक वस्तु है, पीलापन, चिकनापन, वजन आदि उसकी शक्तियाँ हैं, उसमें कुण्डल, कड़ा, अंगूठी वगैरह अवस्था हो, वह पर्याय कहलाती है। वैसे, यह भगवान आत्मा सोने के समान त्रिकाली ध्रुव वस्तु है, परमपारिणामिकभाव शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव उसका भाव है, उसकी ज्ञान, दर्शन आदि निर्मलदशा प्रगट हो, वह पर्याय है। वस्तु और वस्तु का स्वभाव त्रिकाल ध्रुव है, पर्याय परिणमनशील है।

प्रवचनसार में (गाथा १६०) आता है कि – बालक, युवान और वृद्ध – ये तो शरीर की अवस्थायें हैं, उसका मैं कर्त्ता नहीं। इस शरीर की युवान अवस्था हो या वृद्ध, सरोग हो कि निरोग – ऐसी कोई भी अवस्था हो, उसको मैंने किया नहीं, कराया नहीं, मैं उसका अनुमोदक नहीं, वैसे ही उन-उन अवस्थाओं का मैं कारण भी नहीं। अहा ! मैं ऐसा शुद्ध चैतन्य-घन प्रभु परमात्मद्रव्य हूँ। उसका सम्यक्श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान और अनुचरण हो, वह पर्याय है। आगम भाषा से कथन करें

तो उसे उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक ऐसे भावत्रयरूप से कहा जाता है।

जैसे, पानी में मैल नीचे बैठ जाए अर्थात् पानी नितर कर निर्मल हो गया हो, वैसे जिसमें कषाय दब गई हो (अर्थात् उसका उदय में अभाव हो) ऐसी निर्मल पर्याय को उपशमभाव कहते हैं। कुछ निर्मलता और कुछ मलिनता का अंश अभी विद्यमान है, ऐसी दशा को क्षायिकभाव कहते हैं तथा राग का जिसमें सर्वथा क्षय हो जाए, उस पर्याय को क्षायिकभाव कहते हैं। इन तीनों को भावत्रय कहा जाता है। ये तीनों भाव मोक्षमार्गरूप हैं, उसमें (मोक्षमार्ग में) उदयभाव नहीं समाता। व्यवहार-रत्नत्रय का परिणाम उदयभाव है, वह मोक्षमार्ग में नहीं समाता। फिर इससे (व्यवहार से) निश्चय हो, ये बात कहाँ रही ? वास्तव में निश्च-रत्नत्रय परम निरपेक्ष है, उसमें व्यवहार-रत्नत्रय की कोई अपेक्षा नहीं। नियमसार की दूसरी गाथा में यह बात आई है।

भाई ! यह बात अभी अन्यत्र कहीं नहीं चलती इसलिए तुझे कठिन लगती है, पर यह परम सत्य है। दो सौ वर्ष पहले पण्डित दीपचन्दजी अध्यात्म पंचसंग्रह में लिख गए हैं कि – बाहर देखता हूँ, तो वीतराग के आगमानुसार किसी की श्रद्धा नहीं दिखती, वैसे ही आगम के सिद्धान्त के रहस्य को कहने वाला कोई वक्ता भी देखने में नहीं आता, तथा किसी से मुख से यह बात कहें तो वह मानता नहीं। इसलिए मैं यह तत्त्व की बात लिख जाता हूँ। आजकल तो इस बात की हाँ पाड़ने वाले रुचि वाले जीव पके हैं, दिगम्बरों में से तथा श्वेताम्बरों में से भी हजारों लोग यह बात समझने वाले हुए हैं। मानो इस बात की जागृति का यह काल है।

भगवान आत्मा त्रिकाली परमस्वभावभावरूप परम-पारिणामिकभाव लक्षण निज परमात्मद्रव्य है, उसके श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र की जो निर्मलदशा प्रगट हो, उसे उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक – ऐसे भावत्रय कहते हैं।

यह तो पहले कहा जा चुका है कि औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और औदयिक ये चार भाव पर्यायरूप हैं, और शुद्ध पारिणामिक भाव द्रव्यरूप है। इन चार पर्यायरूप भावों से मुक्ति होती है अर्थात् तीन भाव मोक्षमार्गरूप हैं, जब कि चौथा औदयिकभाव मोक्षमार्ग से बाहर है अर्थात् औदयिक-भाव से मुक्ति नहीं होती। व्यवहार करते-करते मोक्ष हो जाएगा – ऐसा मानने वाले केवल व्यवहार की रुचि वालों को ऐसी बात नहीं रुचती है। क्या करें ? व्यवहार का जो राग है, वह औदयिकभाव है और औदयिकभाव मुक्ति का – मोक्ष का कारण नहीं है।

एक करोड़पति मुमुक्षुभाई एक बार ऐसा बोला – "महाराज ! आपकी बात मुझे ऐसे तो ठीक लगती है, पर मुझे यह अनेक भव पीछे समझ में आएगी।" अरे भाई ! जिसे यह बात ठीक लगती है, उसके अनेक भव कैसे होंगे ? इसलिए तू ऐसा कह कि मुझे यह ठीक नहीं लगती। बहाने क्यों बनाता है ? क्या करें ? लोगों को ऐसा परम तत्त्व समझना कठिन पड़ता है, पर बापू ! यह तो देवाधिदेव सर्वज्ञ परमात्मा से आई हुई परम सत्य बात है।

अहा ! चौरासी के अवतार में कहीं एकेन्द्रियादि में रखड़ते-रखड़ते मुश्किल से यह मनुष्यभव मिला है। इसे तू बाहर की मस्ती करने में, कमाने-धमाने में बिता दे तो जिन्दगी व्यर्थ चली जाएगी। पुण्योदय हो तो पैसे का ढेर हो जाए, पर इसमें क्या है ? ये तो धूल है बापू ! जिससे जन्म-मरण का

फेरा न मिटे ये चोज क्या काम की ? अहो ! सर्वज्ञ परमेश्वर की ऐसो वाणी भाग्य हो तो सुनने को मिले।

महाविदेह क्षेत्र में अभी साक्षात् सर्वज्ञ परमात्मा सीमन्धर विराजते हैं, पाँच सौ धनुष की देह है, करोड़ पूर्व की आयु है, त्रिकालज्ञानी हैं और स्वयं तीर्थङ्कर पद में विराजते हैं। अन्य लाखों केवली भगवान भी वहाँ विराजते हैं। वहाँ से आई हुई यह वाणी है। उसमें कहते हैं कि आगमभाषा से जो उपशमादि भावत्रय कहलाते हैं, वे मोक्ष के कारण हैं, और उदयभाव मोक्ष का कारण नहीं है। क्या कहा ? यह दया, व्रत, तप, पूजा, भक्ति इत्यादि जो शुभवृत्ति उठती है, वह राग है, विकार है, और वह मोक्ष का कारण नहीं है। भावपाहुड की गाथा तेरासी में कहा है कि व्रत, पूजा, भक्ति आदि का राग वीतरागतामय धर्म नहीं, ये तो सब राग की क्रियायें हैं, इनसे पुण्यबन्ध होता है, धर्म नहीं होता।

वास्तव में शुद्ध पारिणामिकभाव विषयक जो भावनारूप औपशमिकादिक तीन भाव हैं, वे रागादि से रहित होने से शुद्ध उपादान कारणभूत होने से मोक्ष के कारण हैं, चाहे उपशमभाव हो, क्षयोपशमभाव हो, कि क्षायिकभाव हो – ये तीनों भाव रागरूप विकल्प से रहित शुद्ध हैं और इसीलिए उन्हें मोक्षमार्गरूप भावत्रय कहा जाता है।

इस जीव को अपनो चीज की तो खबर ही नहीं और उलटा-उलटा मानता है कि भगवान की भक्ति करो तो भगवान मोक्ष दे देंगे। पर भाई ! जरा विचार तो कर, भगवान तुझे क्या देंगे ? तेरी चीज तो तेरे पास पड़ी है, भगवान तुझे कहाँ से देंगे ? तथा भगवान तो पूर्ण वीतरागी हैं, निजानन्दरस में लीन होकर परिणमित हो रहे हैं। उनको कुछ देना-लेना तो है नहीं, तो फिर वे तुझे मोक्ष क्या देंगे ?

प्रश्न – भगवान को मोक्षदातार कहा जाता है न ?

उत्तर – हाँ, ऐसा कहने में आता है । भगवान ने स्वयं अपने में अपने से निजानन्दरस में लीन होकर मोक्षदशा प्रगट की और अपने को ही वह दशा दी इसलिए उनको मोक्षदातार कहते हैं । तथा कोई जीव उन्हें देखकर, उनका उपदेश पाकर स्वयं अन्तर्लीन होकर ज्ञान-दर्शन प्रगट करे तो उसमें भगवान निमित्त हैं । अतः निमित्त की मुख्यता से भगवान को मात्र उपचार से मोक्षदातार कहा जाता है ।

देखो, जो एक समय में तीनकाल-तीनलोक को प्रत्यक्ष जानते हैं, वे सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर हैं, उनके शरीर की दशा नग्न होती है । उनको 'अरिहंत' भगवान कहते हैं । 'अरिहंत' अर्थात् क्या ? 'अरि' अर्थात् पुण्य और पाप के विकारी, भाव और उन्हें जिसने हना है वे अरिहंत हैं । जहाँ पुण्य-पाप भाव को भी अरि अर्थात् बैरी कहा है, वहाँ वे भाव धर्म प्रगट होने में मदद करें, यह कैसे हो सकता है ? भाई हर प्रकार से यह स्पष्ट है कि ये पुण्यभाव औदयिकरूप है और मोक्ष का कारण नहीं है, मोक्ष के कारणरूप तो उपशमादिभाव कहे जाते हैं ।

यहाँ कहते हैं – निजपरमात्मद्रव्य के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप परिणाम, अध्यात्मभाषा से "शुद्धात्माभिमुख-परिणाम", "शुद्धोपयोग" इत्यादि नाम से कहे जाते हैं । देखो, क्या कहते हैं ? कि आत्मा का दर्शन, आत्मा का ज्ञान और आत्मा का अनुचरण ये तीनों भाव शुद्धात्मा के सन्मुख परिणाम हैं । लोगों की बातों में और यह वीतराग के तत्त्व की बातों में इतना बड़ा फेर है । आता है न कि–

आनन्दा कहे परमानन्दा, माणसे माणसे फेर ।
एक लाखे तो ना मले, एक तांबियाना तेर ॥

अज्ञानी की मानी हुई श्रद्धा में और भगवान वीतराग द्वारा कहे गये तत्त्व की श्रद्धा में प्रत्येक बात में अन्तर है ।

सर्वज्ञदेव त्रिलोकीनाथ अरिहंत परमात्मा ऐसा फरमाते हैं कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम, शुद्धात्माभिमुख, परिणाम हैं, अर्थात् वे राग से और पर से विमुख तथा स्वभाव की सन्मुखतारूप परिणाम हैं। अहाहा ! जिसे आगमभाषा से उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकभाव कहते हैं, वह शुद्धात्माभिमुख अर्थात् स्वभावसन्मुखतारूप परिणाम है और उसी को मोक्षमार्ग कहा जाता है।

प्रभु तू अनन्तकाल से दुःखी होने के रास्ते पर चढ़ गया है। यहाँ तुझे सुखी होने का पन्थ बताते हैं। क्या कहते हैं ? कि पर से विमुख और स्व से सन्मुख ऐसे निज परिणाम का नाम मोक्ष का मार्ग है। साक्षात् सर्वज्ञ परमेश्वर हों तो भी वे तेरे लिए परद्रव्य हैं। भाई ! उनके प्रति तुझे जो भक्ति होती है, उससे विमुख और इस राग को जानने वाली एक समय की पर्याय से भी विमुख शुद्ध-आत्मद्रव्य की सन्मुखतारूप परिणाम को भगवान मोक्ष का मार्ग कहते हैं। अजानकार लोगों को तो ये बातें पागलों की बातें जैसी लगें, पर क्या करें नाथ ! तुझे तेरी खबर नहीं है।

शुद्ध-आत्मवस्तु सहजशुद्धपारिणामिकभाव लक्षण निज-परमात्मद्रव्य है। उसकी सन्मुखता के परिणाम को आगम भाषा से उपशमादि भावत्रय कहते हैं, अध्यात्मभाषा से उसे शुद्धात्माभिमुख कहते हैं और उसे ही मोक्ष का मार्ग कहते हैं। भाई ! दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का परिणाम तो औदयिक-भाव है और वह परसन्मुखतारूप भाव है। इसलिए वह धर्म नहीं, तथा धर्म का कारण नहीं। स्वाभिमुख स्वदशा ही एक मोक्ष का कारण है। ऐसा सूक्ष्म मार्ग है भाई !

एक पण्डितजी कहते थे कि पर्याय में अशुद्धभाव हो तो सम्पूर्ण द्रव्य अशुद्ध हो जाता है। अरे भाई ! तू यह क्या

कहता है ? शुद्ध-आत्मद्रव्य तो त्रिकाल शुद्ध है। त्रिकाली द्रव्य कभी भी अशुद्ध नहीं होता। पर्याय में अशुद्धता होती है। शुभाशुभ के समय द्रव्य की पर्याय उसमें तन्मय है, पर इससे कहीं त्रिकाली द्रव्य अशुद्ध नहीं हो जाता। परिणाम भले शुभ हो या अशुभ हो, उस काल में त्रिकाली ध्रुवद्रव्य तो शुद्ध ही है। अनादि-अनन्त वस्तुतत्त्व तो शुद्ध ही है, और जहाँ जीव शुभाशुभ भाव से हटकर त्रिकाली शुद्ध द्रव्य की दृष्टि करता है, वहाँ तत्काल ही पर्याय भी शुद्ध हो जाती है। समझ में आया ? "पर से खस, स्व में बस, टूंका ने टच, इतना करो बस", बस इतनी बात है।

इन्दौर के सेठ सर हुकमचन्द यहाँ आये थे, ८३ वर्ष की उम्र में उनका देह छूट गया था। वे ऐसा कहते थे —"जैसा आप कहते हो वैसा मार्ग तो अन्यत्र कहीं सुनने को नहीं मिलता" लोगों को यह बात कठिन मालुम पड़ती है। कितनों को तो इसमें अपना अपमान जैसा लगता है, पर बापू ! यह तो वास्तविकता है। तेरी अवास्तविक मान्यता टले और सत्यार्थ बात समझे इस हेतु से तेरे हित की बात कहते हैं। भाई ! किसी के अनादर के लिए यह बात नहीं है। यह तो स्व-स्वरूप के आदर की बात है।

परम भावस्वरूप त्रिकाली निज-परमात्मद्रव्य के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप परिणाम को 'शुद्धोपयोग' पर्यायसंज्ञा से कहा जाता है, और वह स्वाभिमुख परिणाम है। पुण्य और पाप भाव तो अशुद्धोपयोग हैं और वह परसन्मुख परिणाम है। आत्मा की सन्मुखतावाले स्वाभिमुख परिणाम को 'शुद्धोपयोग' कहते हैं और वह शुद्धोपयोग मोक्ष का मार्ग है — ऐसा कहते ही व्यवहाररूप शुभोपयोग मोक्षमार्ग नहीं है — यह स्पष्ट हो जाता है।

अरे भाई ! तू थोड़े दिन शान्त चित्त से धीरज से यह बात सुन। बापू ! यह कोई वाद-विवाद करने का विषय नहीं है,

और हम किसी के वाद-विवाद में पड़ते भी नहीं हैं। यह तो शुद्ध वीतराग तत्त्व की बात है। वाद-विवाद से अन्तर का तत्त्व प्राप्त हो – ऐसा नहीं है।

भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ शुद्ध चैतन्यमय अनन्तगुणनिधान प्रभु एक समय में परिपूर्ण वस्तु है। उसके सन्मुखतारूप परिणाम को यहाँ शुद्धोपयोग कहते हैं, और उसे ही मोक्षमार्ग कहा है। तथा उसे ही शुद्धात्मभावना, शुद्धरत्नत्रय, वीतरागता, स्वच्छता, पवित्रता, प्रभुता, साम्यभाव इत्यादि कहते हैं। इसके अतिरिक्त (स्वसन्मुख परिणाम के अतिरिक्त) दया, दान आदि के परिणाम वास्तव में जैनधर्म नहीं है। लोग मन्दिर में और शास्त्र के प्रकाशन में लाखों रुपयों का दान देते हैं न? परन्तु वह परिणाम धर्म नहीं है। पैसा तो अपने काल में अपनी क्रियावती शक्ति के कारण से आता है और जाता है। वहाँ पर का स्वामी होकर तू मानता है कि मैंने पैसा दान में दिया, तो यह तेरी भ्रम भरी मूढ़मति है।

साहू शान्तिप्रसादजी प्रान्तिज में आए थे, तीन व्याख्यान सुने थे। पिछले वर्ष इस शरीर के ८७ वर्ष पूरे होने पर जन्म-जयन्ती के समय दादर में उन्होंने ८७ हजार रुपये अपनी तरफ से दिए थे। उस समय उनसे हमने कहा – सेठ, दान देने में राग मन्द हो तो पुण्यबन्ध का कारण हो, पर ये कुछ धर्म का कारण नहीं है।

भाई! धर्म तो एक शुद्धात्म सन्मुख परिणाम ही है। उसको यहाँ शुद्धोपयोग कहा है। उसे शुद्धोपयोग कहो, वीतराग-विज्ञान कहो, स्वच्छता का परिणाम कहो, अनाकुल आनन्द का परिणाम कहो, शुद्धात्माभिमुख परिणाम कहो या शान्ति का परिणाम कहो – वह ऐसे अनेक नामों से कहा जाता है। अहाहा! भगवान आत्मा पूर्ण शान्ति से भरा हुआ चेतन्यतत्त्व

है। उसकी सन्मुखता का परिणाम भी शान्त-शान्त-शान्त अकषायरूप शान्त, वीतरागी शुद्ध परिणाम है। वस्तु स्वयं पूर्ण अकषाय शान्त स्वरूप है, और उसकी प्रतीति, ज्ञान और रमणता भी अकषायरूप शान्त परिणाम है। इसे ही मोक्ष का अर्थात् पूर्ण परमानन्द की प्राप्ति का उपाय कहते हैं। इसके सिवा दूसरा कोई उपाय है ही नहीं।

भाई ! अनादि-अनन्त सदा एकरूप परम स्वभावभाव-स्वरूप निज-परमात्मद्रव्य ध्रुव त्रिकाल है, और मोक्षमार्ग परम स्वभावभाव के आश्रय से प्रगट हुई वर्तमान पर्याय है। एक त्रिकाली भाव और एक वर्तमान पर्याय भाव, ऐसे द्रव्य-पर्यायरूप दोनों स्वभाव वस्तु में एक साथ हैं। वस्तु कभी पर्याय बिना नहीं होती, उसमें प्रत्येक समय नई-नई पर्याय परिणमित होती रहती है। वह पर्याय यदि अन्तरमुख होकर स्वभाव में ढली हुई हो तो मोक्ष का कारण है, और बहिर्मुख होकर परभाव में ढली हुई हो तो बन्ध का कारण है। इस प्रकार बन्ध-मोक्ष का खेल तेरी पर्याय में ही होता है, अन्य कोई तेरे बन्ध-मोक्ष का कारण नहीं। अपने परम स्वभाव में एकाग्र होकर आनन्द को अनुभवने वाली, ध्रुव में ढली हुई और ध्रुव में मिली हुई जो दशा होती है, वह मोक्षमार्ग है और वही धर्म है। ध्रुव सामान्य को ध्यान में लेकर जो दशा प्रगट होती है, वह नवीन है, ध्रुव नया नहीं प्रगटा, पर निर्मल अवस्था नवीन प्रगटी है और उसी समय मिथ्यात्वादि पुरानी अवस्था का नाश हुआ है। नाश होना और उपजना वह पर्याय धर्म है और टिका रहना वह द्रव्यस्वरूप है। इसप्रकार वस्तु द्रव्य-पर्यायस्वरूप है। अहो ! द्रव्य और पर्याय का ऐसा अलौकिक सत्यस्वरूप सर्वज्ञ भगवान ने साक्षात् देखकर उपदेश दिया है। अहा ! इसे समझले तो तू निहाल हो जाए और उसके फल में केवलज्ञान फले – ऐसी यह अलौकिक बात है।

निज-परमात्मद्रव्य के आश्रय से मोक्षमार्ग है, पर के आश्रय से मोक्षमार्ग नहीं है। क्या कहा ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम, ये तीनों स्वाश्रित परिणाम है, उसमें पर का या राग का जरा भी अवलम्बन नहीं है। वे तीनों ही भाव शुद्धात्माभिमुख हैं और पर से विमुख हैं। इसप्रकार मोक्षमार्ग अत्यन्त निरपेक्ष है, परम उदासीन है। जितना परसन्मुखता का पराश्रित रागादि व्यवहार भाव है,वह कोई भी भावमोक्षमार्ग नहीं है। स्वाभिमुख स्वाश्रित परिणाम में व्यवहाररूप राग की उत्पत्ति ही नहीं होती। इसलिए रागादिभाव मोक्षमार्ग नहीं, स्वाश्रित निर्मल रत्नत्रयरूप भाव ही मोक्षमार्ग है, और वही धर्म है। उसे ही आगमभाषा से उपशमादि भावत्रय कहा गया है।

इसप्रकार पाँच भावों में से मोक्ष का कारण कौन है ? यह बताया, उसके अनेक नामों की पहचान कराई। अब कहते हैं –

"वह पर्याय शुद्ध-पारिणामिकभाव लक्षण शुद्धात्मद्रव्य से कथंचित भिन्न है।"

क्या कहा ? कि जो शुद्ध-पारिणामिकभावलक्षण त्रिकाली ध्रुव द्रव्य है, उससे वह मोक्षमार्ग की पर्याय कथंचित् भिन्न है। जिस परिणाम को आगमभाषा से उपशमादि भावत्रय कहा और अध्यात्म भाषा से जिसे शुद्धात्माभिमुख परिणाम या शुद्धोपयोग कहा, वह परिणाम त्रिकाली परम स्वभाव भावरूप निज-परमात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न है। देखो, द्रव्यसंग्रह में मोक्षमार्ग के ६५ नाम दिए हैं। ये सब स्व-स्वभावमय चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मद्रव्य के आश्रय से प्रगटे शुद्धोपयोगरूप परिणाम के नामान्तर हैं। यहाँ कहते हैं–वह परिणाम शुद्ध-पारिणामिक-भावलक्षण शुद्ध-आत्मद्रव्य से कथंचित भिन्न है, यह बात सूक्ष्म है प्रभु !

रागादि पुण्य-पाप के भाव तो त्रिकाली शुद्ध-आत्मद्रव्य से भिन्न ही हैं, क्योंकि रागादि भाव दोष हैं, उदयभाव हैं, और बन्ध के कारण हैं, जबकि भगवान आत्मा सदा निर्दोष, निरपेक्ष और अबन्ध तत्त्व है। भाई ! व्यवहार-रत्नत्रय का भाव – देव-शास्त्र-गुरु की भेदरूप श्रद्धा, शास्त्र का ज्ञान और पंच-महाव्रत का परिणाम इत्यादि जो मन्द राग का परिणाम है, वह कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ औदयिकभाव है। वह उदयभाव बन्ध का कारण है और इसलिए वह परिणाम शुद्ध-आत्मद्रव्य से भिन्न है, अर्थात् उस परिणाम में शुद्ध-आत्मद्रव्य नहीं है।

यहाँ तो विशेष ऐसा कहते हैं कि पूर्णानन्दमय, परमानन्दमय मोक्ष का उपाय जो शुद्धोपयोगरूप मोक्षमार्ग है, वह भाव एक समय की पर्यायरूप है, और वह भाव शुद्धात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न है। सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीनों पर्याय हैं, शुद्धोपयोग भी पर्याय है। यह पर्याय शुद्ध-पारिणामिकभालक्षण निज-परमात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न है। अहा ! जिसमें कुछ पलटना नहीं, बदलना नहीं, ऐसी अपनी त्रिकाली ध्रुव चीज शुद्ध-आत्मवस्तु, जिसे यहाँ शुद्ध-पारिणामिकभावलक्षण कहा है, उससे स्वसन्मुख मोक्षमार्ग का परिणाम कथंचित् भिन्न है। अहो ! जैनतत्त्व बहुत सूक्ष्म है भाई !

कर्मोदय के निमित्त से जो भाव होता है, वह विकार है और बन्ध का कारण है। उपशमभाव कर्म के अनुदय के निमित्त से होने वाली दशा है, वह दशा पवित्र है; पर अन्दर अभी कर्म की सत्ता पड़ी है, अतः उसे उपशमभाव कहते हैं। जिसमें कुछ निर्मल और कुछ मलिन अंश हो – ऐसी मिश्र दशा को क्षयोपशम कहते हैं। जो दशा कर्म के क्षय के निमित्त से प्रगट हो उसे क्षायिकभाव कहते हैं। इन भावों में तो कर्म के उपशम, क्षय आदि की अपेक्षा आती है, जबकि त्रिकाली स्वभाव

में कोई अपेक्षा लागू नहीं पड़ती । ओहो ! त्रिकाली चैतन्यमात्र द्रव्यस्वभाव, चिदानन्द, सहजानन्द, नित्यानन्द प्रभु परम निरपेक्ष तत्त्व है ।

अहा ! यह तो मारग ही अत्यन्त जुदा है प्रभु ! तेरे अन्दर जो त्रिकाली ध्रुव सदा एक रूप पड़ा है, वह सहजानन्द-मूर्ति प्रभु अकेला ज्ञान और आनन्द का दल है । वह सम्यग्दर्शन का विषय है । प्रवचनसार में कहा है कि ज्ञेय-तत्व की और ज्ञातृ-तत्व की तथाप्रकार (जैसी है वैसी) प्रतीति जिसका लक्षण है, वह सम्यग्दर्शन पर्याय है । ऐसा सम्यदर्शन जो इसने अनन्तकाल में प्रगट नहीं किया और जो मोक्ष की पहली सीढ़ी है, वह त्रिकाली ध्रुव एक ज्ञायक द्रव्य से भिन्न है ।

भगवान ! तेरा आत्मा परमात्मद्रव्य है । प्रत्येक आत्मा स्वरूप से ऐसा है । उसे शरीर की अवस्था से न देखो, उसे राग की अवस्था से न देखो, अरे ! इसमें निर्मल अवस्था है, वह 'मैं' ऐसा भी न देखो । निर्मल अवस्था में एक त्रिकाली द्रव्य मैं हूँ – ऐसा देखो । त्रिकाली ध्रुव ज्ञायक तत्त्व से वर्तमान निर्मल अवस्था भिन्न है ।

लोगों ने यह मार्ग कभी सुना नहीं इसलिए नया लगता है । परन्तु भाई ! यह मार्ग नया नहीं निकाला, यह तो अनन्त जिनेश्वर भगवन्तों के द्वारा आदर किया और कहा हुआ सनातन मार्ग है । इसने पंचमहाव्रतादि का पालन अनन्तबार किया, यह अनन्तबार नग्न दिगम्बर साधु हुआ, पर एक समय के पीछे (भिन्नपने) सम्पूर्ण परमात्म-तत्त्व क्या है, इसका ज्ञान कभी प्रगट नहीं किया । एक समय की पर्याय में सब रमत रमा, पर अन्दर विराजमान आत्माराम चैतन्यमहाप्रभु में कभी रमणता नहीं की । अन्दर का मार्ग अत्यन्त निराला है भाई !

दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा इत्यादि सब शुभराग है, वह विकल्प है और उदयभाव है, बन्ध का कारण है। उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक भावत्रय उदयभाव से रहित हैं। इन तीनों भावों को यहाँ शुद्धोपयोग कहा है। वह शुद्धोपयोग दशा (जिसमें आनन्द की दशा का वेदन है) त्रिकाली चीज (द्रव्य) से कथंचित् भिन्न है। एक समय की पर्याय उत्पाद-व्ययरूप क्षणिक है। इस अपेक्षा से शुद्धोपयोग की दशा त्रिकाली शुद्ध-आत्मद्रव्य से भिन्न है।

समयसार के संवर अधिकार में आया है कि पुण्य-पाप के भाव और व्यवहार-रत्नत्रय का जितना विकल्प है, वह सब राग त्रिकाली द्रव्य से भिन्न है। अहा! भाव तो भिन्न है, पर राग के प्रदेश भी भिन्न हैं – ऐसा कहा है। आत्मा अकेला आनन्द का दल हैं। इसमें से विकार उत्पन्न नहीं होता। अर्थात् विकार का क्षेत्र त्रिकाली द्रव्य के क्षेत्र से भिन्न है। अनन्त गुणधाम प्रभु आत्मा त्रिकाल शुद्ध असंख्यातप्रदेशी वस्तु है। इसकी पर्याय में जो दया, दान आदि के विकल्प उठते हैं, वे त्रिकाल स्वभाव से तो भिन्न हैं, परन्तु क्षेत्र से भी भिन्न हैं; यहाँ दोनों को भिन्न-भिन्न वस्तु कहा है। एक वस्तु की वास्तव में अन्य वस्तु नहीं – ऐसा वहाँ कहा है। प्रवचनसार गाथा १०२ की शैली के अनुसार "चिद्विलास" में भी ऐसा कहा है कि पर्याय के कारण से पर्याय होती है, द्रव्य-गुण के कारण से नहीं।

इसप्रकार मोक्षमार्ग की पर्याय का कर्त्ता पर्याय स्वयं है। उस पर्याय का कर्म भी वही है, पर्याय का साधन, पर्याय का सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण भी वही पर्याय ही है। पर्याय एक समय की सहज सत् है। वीतराग का ऐसा मार्ग शूरों का मार्ग है। जो यह मार्ग सुनकर भी काँप उठते हैं – ऐसे कायरों का यहाँ काम नहीं है।

देखो, आत्मभान होने के बाद भी ज्ञानी को शुभ या अशुभ भाव भी आता है। उसे कदाचित् आर्त-रौद्रध्यान का तथा विषयभोग का भाव भी होता है। वह भाव कमजोरी के कारण होता है, पर ज्ञानी को इन भावों की रुचि नहीं है, उसे इन भावों में आनन्द नहीं आता। वह तो जानता है कि मेरे स्वरूप में ही आनन्द है, इसके सिवा बाहर में, निमित्त में या राग में कहीं भी सुख नहीं है। राग और निमित्त में सुख है, ऐसी दृष्टि का उसको अभाव है।

जो सारे दिन पैसा कमाने-धमाने में फँस गया हो, वह ये बातें किस दिन समझेगा ? पर बापू ! ये पैसे-वैसा तो जड़-मिट्टी, धूल है। इसमें कहाँ आत्मा है ? ये मेरा है – ऐसी मान्यता ही मिथ्यात्व है, क्योंकि जो जड़ है,वह कभी चेतनरूप नहीं होता। यहाँ तो कहते हैं – जिसमें अपूर्व-अपूर्व आनन्द का स्वाद आता है, ऐसी मोक्ष मार्ग पर्याय भी द्रव्य से कथंचित् भिन्न है। जहाँ अतीन्द्रिय आनन्द का पूर्ण स्वाद आवे, वह मोक्ष है और वह भी एक पर्याय है। वह पर्याय द्रव्य से कथंचित् भिन्न है। द्रव्य क्या ? गुण क्या ? और पर्याय क्या ? ऐसा अपना द्रव्य-पर्याय स्वरूप जानने की लोगों ने कभी दरकार ही नहीं की।

त्रिलोकीनाथ अरिहंत परमेश्वर ऐसा फरमाते हैं कि – व्यवहार-रत्नत्रय का विकल्प कथनमात्र मोक्ष का मार्ग है। यह विकल्प तो भगवान आत्मा से भिन्न है ही, पर त्रिकाली ध्रुव के आलम्बन से अन्तर में प्रगट होने वाली मोक्ष के मार्ग की पर्याय भी त्रिकाली शुद्ध-पारिणामिकभाव लक्षण निज-परमात्म-द्रव्य से कथंचित् भिन्न है, क्योंकि वस्तु द्रव्यरूप है, वह त्रिकाल है और पर्याय का काल तो एक समय है। निहालभाई ने तो "द्रव्यदृष्टिप्रकाश" में पर्याय को द्रव्य से सर्वथा भिन्न कहा

है – यह बात ख्याल में है, पर यहाँ अपेक्षा रखकर कथंचित् भिन्न कहा है। मोक्ष दशा का कारणरूप निश्चय-मोक्षमार्ग की पर्याय शुद्धात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न है – इसप्रकार यहाँ अपेक्षा से बात है।

सम्यग्दर्शन पर्याय है। उसका विषय त्रिकाल सत्यार्थ, भूतार्थ, मौजूद चीज, सच्चिदानन्द प्रभु भगवान आत्मा है। यहाँ कहते हैं, विषयी (पर्याय) अपने विषय (त्रिकाली ध्रुव) से कथंचित् भिन्न है। क्योंकि विषयी (पर्याय) भावनारूप है और विषय (शुद्ध पारिणामिक भाव) भावनारूप नहीं है।

अहो ! जंगल में बसने वाले सन्तों ने कैसा काम किया है। अन्दर में सिद्धों के साथ गोष्ठी की है, अर्थात् अन्दर में निज सिद्धस्वरूप का अनुभव प्रगट करके स्वयं भगवान सिद्ध के साधर्मी होकर बैठे हैं, उनकी यह वाणी है।

भगवान आत्मा शुद्ध-पारिणामिकभाव लक्षण एक पूर्ण चैतन्यमय वस्तु है, वह त्रिकाल भावरूप है, भावनारूप नहीं, जबकि उसके आश्रय से जो मोक्ष का मार्ग प्रगट हुआ है, वह भावनारूप है, त्रिकाल भावरूप नहीं। सूक्ष्म बात है प्रभु !

अज्ञानी मूढ़ जीव ये स्त्री-पुत्रादि मेरे हैं, यह बाग-बंगला मेरा है तथा मैं यह करूँ और वह करूँ – इसप्रकार पर की सम्भाल करने में फँस गया है। वह तो मोक्ष के मार्ग से बहुत ही दूर है। यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि मोक्षमार्ग की पर्याय वर्तमान भावनारूप होने से त्रिकाली ध्रुव निज-परमात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न है – ऐसा भेद अन्तर में जिसे भासित नहीं हुआ, वह भी मोक्ष के मार्ग से दूर है। अब जहाँ यह बात है,[1] वहाँ व्यवहार से निश्चय प्रगट होता है – यह बात कहाँ रही प्रभु !

१. निर्मल पर्याय और त्रिकाली द्रव्य में भिन्नता की बात है।

त्रिकाली पारिणामिक को भावरूप कहो, पारिणामिक कहो, ध्रुव कहो, नित्य कहो, एकरूप कहो; और पर्याय को अनित्य, अध्रुव, विसदृश कहो, क्योंकि उसमें प्रतिसमय उत्पाद-व्यय होता है। मोक्ष का मार्ग भी उत्पाद-व्ययरूप है। अर्थात् वर्तमान समय में जिसका उत्पाद होता है, दूसरे समय में उसका व्यय होता है, दूसरे समय जिसका उत्पाद हो उसका तीसरे समय में व्यय होता है। इसप्रकार उत्पाद-व्ययरूप होने से मोक्ष मार्ग की पर्याय शुद्ध-पारिणामिकभावलक्षण द्रव्य से कथंचित् भिन्न है। क्यों ? क्योंकि वह पर्याय भावनारूप है।

बारह भावनायें कहीं है न ? वे पहले तो विकल्परूप होती है, फिर विकल्प का व्यय होकर निर्विकल्प दशा होती है। यह निर्मल निर्विकल्प पर्याय भावनारूप है। भाव अर्थात् त्रिकाली एक रूप परमात्मद्रव्य, उसके सन्मुख होकर प्रगट होने वाली दशा भावनारूप है, त्रिकाली भावरूप नहीं। भाई ! ये शब्द तो जड़ हैं, उनका वाच्य (भाव) यथार्थ समझना चाहिए।

शुद्ध-पारिणामिकभावरूप त्रिकाली स्वभाव परमानंदमय प्रभु है, वह भावनारूप नहीं, अर्थात् वह वर्तमान पर्यायरूप नहीं है। उसके आश्रय से प्रगट हुई मोक्ष के कारणरूप दशा भावना-रूप है। यह बात न समझकर कितने ही लोग दया, दान, व्रत, भक्ति आदि व्यहार करते-करते निश्चय मोक्षमार्ग प्रगट हो जाता है – ऐसा कहते हैं। अरे प्रभु ! इसप्रकार तुझे सत्य नहीं मिलेगा, असत्य ही मिलेगा, क्योंकि राग के सर्व भाव असत्यार्थ ही हैं। त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा से मोक्षमार्ग की वर्तमान पर्याय को उससे कथंचित् भिन्न कहकर असत्यार्थ कहा है तो फिर राग के विकल्पवाली मलिन दुःखरूप दशा का क्या कहना ? भाई ! मोक्षमार्ग की पर्याय तो पवित्र है, आनन्दरूप है, अबन्ध है। वह भी त्रिकाली शुद्ध-द्रव्य से कथंचित् भिन्न है तो फिर

बन्धरूप राग की दशा का क्या कहना ? राग करते-करते निश्चय (वीतरागता) प्रगटेगा, यह तो तेरा अनादिकालीन भ्रम है। भाई ! वीतरागभाव शुद्धात्मा के आश्रय से प्रगट होता है।

अहा ! मोक्ष के कारणरूप अबन्ध परिणाम भावनारूप हैं, त्रिकाली शुद्ध द्रव्यस्वभाव भावनारूप नहीं है। अहो ! ऐसी शुद्ध तत्त्वदृष्टि करके चक्रवर्ती और तीर्थङ्कर के आठ-आठ वर्ष के पुत्रों ने केवलज्ञान प्रगट करके अल्पकाल में मोक्ष पद पाया है। उनको शरीर की अवस्था कहाँ रोकती है ? यह तो पुण्यशालियों की बात है, नहीं तो लकड़ी बेचकर गुजारा चलाने वाले गरीब कठियारे के आठ-आठ वर्ष के पुत्र भी अन्तःतत्त्व का भान करके, जहाँ मनुष्य के चलने का पगरव भी नहीं होता, ऐसे जङ्गल में जाकर एकान्त स्थान में निजस्वरूप की साधना करके अल्प समय में ही परमपद की प्राप्ति कर लेते हैं। अहो ! अन्तर का ऐसा कोई अलौकिक मार्ग है।

बाहर की चीज – निमित्त और राग तो कहीं दूर रह गया, यहाँ तो निर्मल द्रव्य-पर्याय के बीच कथंचित् भेद होने की सूक्ष्म बात है। जैनतत्त्व बहुत सूक्ष्म और गम्भीर है भाई ! यहाँ विशेष कहते हैं –

"यदि वह (पर्याय) एकान्त से शुद्ध-पारिणामिक से अभिन्न हो. तो मोक्ष का प्रसंग बनने पर इस भावनारूप (मोक्ष की कारणभूत) पर्याय का विनाश होने पर शुद्ध पारिणामिकभाव भी विनाश को प्राप्त हो, पर ऐसा तो होता नहीं है। (कारण कि शुद्ध पारिणामिक भाव तो अविनाशी है)"

देखो, क्या कहते हैं ? वीतरागभावरूप निर्मल पर्याय यदि त्रिकाली भाव से एकमेक हो तो मोक्ष का प्रसङ्ग बनने पर मोक्षमार्ग की भावनारूप पर्याय का विनाश होता है, उस समय ही शुद्ध पारिणामिकभाव – त्रिकालीभाव भी विनाश को प्राप्त

हो जाए। यहाँ क्या कहना है ? कि मोक्ष मार्ग में क्षायिक-भावरूप जो निर्मल पर्याय हुई, वह पर्याय त्रिकाली द्रव्य के साथ सर्वथा अभिन्न नहीं है। यदि दोनों सर्वथा अभिन्न हों तो दो धर्मों की सिद्धि ही न हो और एक धर्म का (पर्याय का) व्यय होने पर सम्पूर्ण द्रव्य का ही नाश हो जाए। देखो, पूर्ण शुद्ध ज्ञान और आनन्द की प्राप्तिरूप मोक्ष की प्रगटता होने पर मोक्षमार्ग की भावनारूप पर्याय का व्यय होता है। तो क्या उस समय आत्मद्रव्य का ही नाश हो जाता है ? नहीं होता, क्योंकि वह पर्याय द्रव्य के साथ सर्वथा अभिन्न नहीं है, कथंचित् भिन्न है। मोक्षमार्ग की भावनारूप पर्याय यदि त्रिकाली पारि-णामिकभाव के साथ एकान्त से एकमेक हो तो मोक्ष के प्रसङ्ग में मोक्षमार्ग को पर्याय का व्यय होने पर त्रिकाली द्रव्य का भी नाश हो जाए पर ऐसा कभी बनता नहीं, क्योंकि त्रिकाली द्रव्य स्वभाव तो शाश्वत् अविनाशी तत्त्व है। समझ में आया ? भाई ! यह बात न्याय से कही गई है, न्याय से तो समझना चाहिए न ? वाद-विवाद से क्या पार पड़े ?

भाई ! केवलज्ञान की पर्याय भी नाशवान है। नियम-सार, शुद्धभाव अधिकार में नवतत्त्वों को नाशवान कहा है। जीव की एक समय को पर्याय नाशवान है, अजीव का ज्ञान करने वाली पर्याय नाशवान है। आस्रव, बन्ध, पुण्य और पाप संवर, निर्जरा और मोक्ष – इन सब तत्त्वों को वहाँ नाशवान कहा है। गजब की बात है भाई ! शरीर नाशवान, पैसा नाशवान, रागादि नाशवान, संवर-निर्जरा अर्थात् मोक्षमार्ग की पर्याय नाशवान और केवलज्ञान की पर्याय भी नाशवान है, क्योंकि प्रत्येक पर्याय की स्थिति ही एक समय की है। केवल-ज्ञान की पर्याय दूसरे समय रह नहीं सकती, क्योंकि वह एक समय की स्थिति वाली क्षण विनाशी चीज है, जबकि भगवान

अन्दर नित्यानन्द प्रभु निज-परमात्मद्रव्य शुद्ध पारिणामिक भावरूप वस्तु अविनाशी शाश्वत् चीज है। इसप्रकार दोनों के बीच कथंचित् भिन्नता है। अनादि अनन्त ऐसी ही वस्तुस्थिति है।

प्रश्न – पंचास्तिकाय में पर्यायरहित द्रव्य नहीं, और द्रव्यरहित पर्याय नहीं – ऐसा कहा है न ?

उत्तर – हाँ, वहाँ तो पर से भिन्न द्रव्य का अस्तिकाय स्वरूप सिद्ध करना है, इसलिए कहा है कि पर्यायरहित द्रव्य नहीं और द्रव्य रहित पर्याय नहीं। वहाँ सम्पूर्ण द्रव्य का (द्रव्य-पर्यायमय) अस्तित्व सिद्ध करना है। पर यहाँ तो अनादिकालीन पर्यायमूढ़ जीव को भेदविज्ञान कराने का प्रयोजन है। इसलिए पर्यायदृष्टि छुड़ाने के लिए कहा है कि पर्याय की त्रिकाली द्रव्य से कथंचित् भिन्नता है, यदि दोनों सर्वथा एकमेक हों तो पर्याय का नाश होने पर द्रव्य का भी नाश हो जाए। पर ऐसा नहीं होता। इसलिए त्रिकाली भाव से वह भावनारूप पर्याय कथंचित् भिन्न है।

भाई ! यह तो अन्दर की बातें हैं। बापू ! यदि तुझे सत् शोधना हो तो वह शाश्वत् सत् अन्दर में है, इसे शोधने वाली पर्याय भी इस सत् से कथंचित् भिन्न है, अर्थात् पर्याय में जिसे अहंभाव है, उसे वह सत् हाथ नहीं लगता – ऐसी चीज है भाई ! तुझे किसमें अहंपना करना है ? किसे अधिकपने मानना है ? मैं पर्याय से अधिक (भिन्न) हूँ – ऐसा मानने से अन्दर द्रव्य जो अधिक है, उसका अनुभव होता है। समयसार गाथा ३१ में आता है –

"जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।"

अहाहा ! ज्ञानस्वभाव जो त्रिकाल है, वह अधिक है। परमस्वभावभावरूप एक ज्ञायकभाव, राग और एक समय की पर्याय से अधिक अर्थात् भिन्न है। यहाँ यही कहते हैं कि ध्रुव-

स्वभाव के लक्ष्य से प्रगट होने वाला सत्यार्थ मोक्ष का मार्ग भावनारूप है और वह त्रिकाली भाव से भिन्न है। भावनारूप मोक्षमार्ग और त्रिकाली परमभाव – दोनों चीजें सर्वथा एक नहीं, वे दोनों चीजें सर्वथा एक हों तो जब भावनारूप मोक्षमार्ग का व्यय होकर मोक्ष हो, तब त्रिकाली भाव के भी नाश होने का प्रसंग आएगा। भगवान ! मारग तो ऐसा सूक्ष्म है।

भाई ! यह मारग, तुझे जैसा है वैसा यथार्थ समझना पड़ेगा। इसे समझे बिना ही तू अनन्तकाल से रखड़ता हुआ दुःखी हो रहा है। यहाँ कोई बड़ा अरबपति सेठ हो, करोड़ों के बंगले में रहता हो, और क्षण में देह छूटकर फू हो जाए[1] तब मरण करके बकरी की कूँख में चला जाएगा, वहाँ जन्म होने पर बें–बें–बें करेगा। पर अरे ! इसे विचार ही नहीं कि मरकर मैं कहाँ जाऊँगा ? मैं कहाँ हूँ ? और मेरा क्या हाल-हवाल होगा ? भाई ! इस अवसर में जो स्वरूप की समझ नहीं की तो कौए, कुत्ते,कीड़ा इत्यादि पर्याय धारण करके तू संसार में खो जाएगा।

यहाँ भावनारूप पर्याय का मोक्ष की कारणभूत पर्याय कहते हैं। अन्य जगह ऐसा भी कहा है कि मोक्ष पर्याय, मोक्ष की कारणभूत मोक्षमार्ग पर्याय से प्रगट नहीं होती। वास्तव में उस समय की केवलज्ञान और मोक्ष की दशा अपने स्वयं के षट्-कारकरूप परिणमन से स्वतन्त्र उत्पन्न होती है, उसे पूर्व की मोक्षमार्ग की पर्याय की अपेक्षा नहीं है। मोक्ष की पर्याय के पहले मोक्षमार्ग की पर्याय अवश्य ही होती है, तो भी मोक्ष की पर्याय उस समय का स्वतन्त्र सत् है। मोक्षमार्ग की पर्याय के कारण मोक्ष की दशा हुई – ऐसा नहीं है। ऐसा मार्ग है भाई !

यहाँ ऐसा समझना है कि मोक्ष होने के पहले जो मोक्ष-मार्गकी पर्याय थी, वह पर्याय त्रिकाली चीज से एकमेक नहीं,पर भिन्न है। यदि अभिन्न हो तो मोक्षमार्ग की पर्याय का नाश होने

---

१. मरण हो जाए।

पर शुद्ध पारिणामिकभाव भी विनाश को प्राप्त हो, पर ऐसा कभी बनता नहीं, क्योंकि वस्तु – त्रिकाली द्रव्य अविनाशी है। अहा! सत् अर्थात् एक सदृशरूप स्वभाव – अविरुद्धस्वभाव त्रिकाली है, वह कहाँ जाए ? विसदृशपना और उत्पाद-व्यय तो पर्याय में है, उपजना और विनसना तो पर्याय में है। वस्तु तो उत्पाद-व्यय रहित त्रिकाल शाश्वत् सत्पने विद्यमान चीज है। आगे कहेंगे कि मोक्ष के मार्ग की पर्यायपने आत्मा नहीं उपजता। अरे ! वह मोक्ष के मार्ग की पर्याय के अभावपने (मोक्षपने) भी नहीं उपजता। बापू ! यह मार्ग ही जुदा है नाथ !

अरेरे ! यह जीव अभी स्व के भान बिना दुःखी है – ऐसी इसको कहाँ खबर है ? अरे ! दुःख क्या है, इसकी भी इसको कहाँ खबर है ? शास्त्र में दृष्टान्त आता है कि वन में दावानल लगने पर पशु-पक्षी भस्म हो जाते हैं। उस समय कोई मनुष्य वन के बीच वृक्ष पर चढ़कर बैठा है और अपने चारों तरफ वन को जलता हुआ देखता है, तो भी ऐसा मानता है कि मैं सकुशल हूँ, मैं कहाँ जलता हूँ ? पर भाई ! ये वन जल रहा है तो वह अभी ही इस झाड़ को जलाएगा और तू भी क्षण में ही जलकर भस्म हो जाएगा। जैसे, झाड़ के ऊपर बैठा हुआ वह मनुष्य "मैं सलामत हूँ" ऐसा मानता है – यह उसकी मूढ़ता है, क्योंकि क्षण में ही अग्नि सुलगती-सुलगती आएगी और झाड़ को पकड़ेगी तब उसकी ज्वाला में वह तत्काल भस्म हो जाएगा। वैसे, यह भवरूप वन कालाग्नि द्वारा जलता हुआ देखते हुए भी "मैं सलामत (सुरक्षित) हूँ, सुखी हूँ, ऐसा कोई मानता है, यह उसकी मूढ़ता है। अरे ! जलने पर भी इसे जलने की खबर नहीं है।

अहा ! मोक्षमार्ग की पर्याय भी नाशवान है। प्रभु ! तुझे किस चीज को टिकाये रखना है ? तू स्वयं नित्यानन्द प्रभु

त्रिकाली टिकता तत्त्व है । इसमें नजर नहीं करता और अनित्य को टिकाना चाहता है – यह तेरी मूढ़ता है । तू देहादि बाह्य विनश्वर वस्तुओं को टिकाने की कोशिश करता है पर इसमें तुझे निष्फलता का दुःख ही प्राप्त होगा ।

बढवाण का एक भाई कहता था – महाराज ! यह सब उपाधि किसने की ? तब हमने कहा – अरे भाई ! क्या इतनी भी तुझे खबर नहीं ? यह सब उपाधि तूने स्वयं ही खड़ी की है । अपने स्वरूप को भूलकर अनादि से राग और विकार की उपाधि तूने स्वयं बटोरी है । तू तुझे ही भूल गया है । अपने निरुपाधि शुद्ध चैतन्यतत्त्व को भूलकर यह सब उपाधि तूने स्वयं खड़ी की है । तू अनन्तकाल से पुण्य-पाप के विकल्प करता रहा और इससे तुझे बन्ध हुआ, उसके निमित्त से यह सब संयोग हुआ है । इन सबको अपना मानकर तूने स्वयं यह उपाधि ग्रहण की है ।

देखो, चमरी गाय की पूँछ बहुत सुन्दर होती है । अपने बाल झाड़ में फस जाने पर वह गाय बालों के प्रेम में वहीं खड़ी रह जाती है और शिकारी के बाण से बिधकर मारी जाती है; इसीप्रकार अज्ञानी संसारी प्राणी इस दुनिया के पदार्थों के प्रेम में फँसकर वहीं खड़ा रह गया है और स्वयं मर रहा है, लुट रहा है, इसका इसे भान नहीं है। नियमसार में आता है, ये स्त्री-बच्चे, कुटुम्ब-कबीला वगैरह अपनी आजीविका के लिए तुझे ठगों की टोली मिली है, तेरे मरण के समय तुझे कोई काम में नहीं आएगा । अभी भी वे किसी काम के नहीं हैं । तू अकेला विलाप करता हुआ कहीं का कहीं चला जाएगा, और इस भवभ्रमण के प्रवाह में तू खो जाएगा ।

भाई ! यह आत्मा के अन्दर के भावों की बात है । शुद्ध पारिणामिकभाव त्रिकाल परमभाव है, उसमें उत्पाद-व्यय नहीं हैं,

और उसका कभी अभाव नहीं होता – ऐसा शाश्वत ध्रुव एक रूप भाव उत्पाद-व्ययरूप है। अशुद्धता का व्यय होकर आंशिक शुद्धतारूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है, और मोक्षमार्ग का व्यय होकर पूर्ण मोक्षदशा प्रगट होती है, परन्तु जो परमभावरूप द्रव्य है, उसका व्यय भी नहीं होता और वह नया प्रगट भी नहीं होता। इसप्रकार पलटती पर्याय, और त्रिकाल टिकता (ध्रुव) द्रव्य – ऐसा वस्तु का स्वरूप है। द्रव्य अपेक्षा से वस्तु अपरिणामी और अक्रिय है और पर्याय अपेक्षा से परिणमनशील और सक्रिय है। श्री सर्वज्ञदेव ने ऐसे द्रव्य-पर्यायरूप वस्तुस्वरूप का उपदेश दिया है। द्रव्य और पर्याय सर्वथा अभिन्न नहीं हैं, कथंचित् भिन्न हैं। सर्वथा भिन्न नहीं और सर्वथा अभिन्न भी नहीं–ऐसा वस्तु का स्वरूप है। सर्वथा भिन्न हों तो वस्तु अवस्था रहित होने से वस्तु ही न रहे, तथा सर्वथा अभिन्न हो तो पर्याय का नाश होने से द्रव्य का ही नाश हो जाए अर्थात् वस्तु ही न रहे। इसलिए द्रव्य-पर्याय कथंचित् भिन्न हैं, यही यथार्थ है।

शास्त्र में 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' कहा है। ध्रुवता अर्थात् टिकना, उत्पाद-व्यय अर्थात् बदलना। टिककर बदले, और बदलकर टिका रहे – ऐसा वस्तु का आश्चर्यकारी सत् स्वरूप है। द्रव्य अविनाशी है, और पर्याय विनाशी है – इसप्रकार द्रव्य-पर्याय दोनों सर्वथा एक नहीं हैं। त्रिकाली शुद्ध द्रव्य के लक्ष्य से प्रगट होने वाली श्रद्धा-ज्ञान-रमणतारूप निर्मल पर्याय यद्यपि मोक्ष दशा का कारण है, तथापि वह मोक्ष दशा होने पर व्यय हो जाती है, जबकि द्रव्य टिककर त्रिकाल स्थिर रहता है। इसप्रकार वस्तु के द्रव्य और पर्याय दोनों अंशों में भिन्नता है। ऐसा वस्तुस्वरूप समझने पर अंश (पर्याय) बुद्धि टलकर द्रव्यदृष्टि होती है।

देखो, आत्मा में एक पर्याय अंश है। अज्ञान टलकर ज्ञान होना, अशुद्धता टलकर शुद्धता होना इत्यादि नया-नया कार्य पर्याय में ही होता है। जो जीव पर्याय का अस्तित्व ही नहीं मानता उसे तो नया कार्य होता ही नहीं, अर्थात् उसे अपने अज्ञानभाव के कारण संसार मिटता हो नहीं; तथा यदि कोई अकेली पर्याय के सामने ही देखा करे और द्रव्य के शुद्ध स्वभाव का लक्ष्य न करे तो उसे भी अशुद्धता टलकर शुद्धता नहीं होती। पर्याय की शुद्धता तो त्रिकाली शुद्ध द्रव्य के आश्रय से होती है। द्रव्यस्वभाव में अन्तर्मुख होकर एकाग्र हुए बिना पर्याय की शुद्धता नहीं होती। द्रव्य को न माने तो भी शुद्धता न सधे, और एकान्त से पर्याय को ही वस्तु मान ले तो पर्याय का व्यय होने पर ही वस्तु का नाश हो जाए, परन्तु ऐसा वस्तु-स्वरूप नहीं है; तथा पर्याय को न मानकर वस्तु को एकान्त नित्य–कूटस्थ माने तो पर्यायरूप पलटना बिना नया कार्य ही नहीं बन सकता, अतः तब संसार का भी अभाव नहीं होगा। इस-प्रकार वस्तु में द्रव्य और पर्याय दोनों अंश एक साथ रहते हैं और उन दोनों में कथंचित् भिन्नपना है, ऐसा स्याद्वाद मत है।

मोक्षमार्ग की पर्याय त्रिकाली द्रव्य से कथंचित् भिन्न है। यह शरीर, मन, वचन इत्यादि आत्मा से सर्वथा जुदे हैं। कर्म भी आत्मा से सर्वथा जुदे हैं। यहाँ कहते हैं – अपने में जो द्रव्य-पर्याय के अंश हैं, वे भी परस्पर कथंचित् भिन्न हैं। अहो ! यह तो भेदज्ञान की चरम सीमारूप सर्वोत्कृष्ट बात है। यह बात जिसके अन्तर में बैठे वह निहाल हो जाए।

अब कहते हैं – इसलिए ऐसा निश्चित हुआ – **शुद्ध-पारिणामिकभावविषयक (शुद्ध-पारिणामिकभाव का अवलम्बन करने वाली) भावनारूप जो औपशमिकादि तीन भाव हैं, वे समस्त रागादि से रहित होने के कारण शुद्ध-उपादानकारण-**

भूत होने से मोक्ष के कारण हैं, परन्तु शुद्ध-पारिणामिक नहीं। (अर्थात् शुद्ध-पारिणामिकभाव मोक्ष का कारण नहीं है।)'

भगवान आत्मा नित्यानन्दमय सच्चिदानन्द प्रभु सदा एक ज्ञायकभाव वस्तु है, उसे शुद्ध-पारिणामिकभाव कहते हैं। यह पारिणामिकभाव मोक्ष का कारण नहीं है, इसे मोक्ष का कारण कहना व्यवहार-नय है, वास्तव में शुद्ध द्रव्य मोक्ष की पर्याय का कारण नहीं है। अहा ! जैसे द्रव्य त्रिकाली सत् है, वैसे पर्याय भी सहज सत् है – ऐसा वस्तु का स्वरूप है। राग परिणाम हो या वीतराग परिणाम हो, वह परिणाम उस-उस काल में सहज सत् है। जहाँ ऐसा वस्तुस्वरूप है, वहाँ व्यवहार से – राग से निश्चय होता है, यह बात कहाँ रही ?

व्यवहार रत्नत्रय करते-करते मोक्ष होगा, ऐसी बातें अभी चलती हैं, पर वे यथार्थ नहीं हैं। दया करो, व्रत करो, दान, भक्ति, पूजा करो इत्यादि प्ररूपणा अभी चलती है, पर भगवान ! ये तो सब राग की क्रियायें हैं। राग तो उदयभाव है, बन्ध का कारण है, वह मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ? स्वयं पूर्णानन्द का नाथ प्रभु अन्तर में सदा शान्ति और आनन्द-भावरूप से विराजमान है, उसके लक्ष्य से स्वतन्त्रपने अपने षट्-कारकरूप परिणमन द्वारा निर्मल रत्नत्रय पर्याय प्रगट होती है। उस पर्याय को व्यवहार–रत्नत्रय की अपेक्षा नहीं है। निश्चय-मोक्षमार्ग की पर्याय व्यवहार की अपेक्षा बिना ही निरपेक्षपने अपने षट्कारकरूप से परिणमती हुई प्रगट होती है। ऐसी सूक्ष्म बात है प्रभु !

भाई ! आत्मा त्रिकाली शुद्ध वस्तु है, वह परिणमित नहीं होती। समयसार गाथा २८० के भावार्थ में आया है – "आत्मा जब ज्ञानी हुआ तब उसने वस्तु का ऐसा स्वभाव जाना कि आत्मा स्वयं तो शुद्ध ही है, 'द्रव्यदृष्टि से अपरिणमनस्वरूप

है, पर्यायदृष्टि से परद्रव्य के निमित्त से रागादिरूप परिणमित होता है, इसलिये अब ज्ञानी स्वयं उन भावों का कर्त्ता नहीं होता, जो उदय आते है, उनका ज्ञाता ही है।"अहा ! सम्यग्दृष्टि उसे कहते हैं कि जो व्यवहार-रत्नत्रयरूप राग का कर्त्ता या भोक्ता नहीं होता, क्योंकि पर्याय में वह ज्ञानभावरूप परिणमित हो रहा है और द्रव्य अपरिणमनस्वरूप है। यह परमात्मा के घर की बात है भाई !

अहाहा ! आत्मा अन्दर चिद्घन ध्रुववस्तु परिणमनरहित और सदा एकरूप है, उसमें परिणमन ही नहीं है, और बदलने वाली विकारी या निर्विकारी पर्याय एक समय का सत् है। रागादि विकार रूप परिणाम भी जड़कर्म की अपेक्षा बिना स्वतंत्ररूप से अपने षट्कारक से प्रगट होने वाले परिणाम हैं।

कुछ लोग कहते हैं – क्या कर्म से विकार नहीं होता ? यदि कर्म से विकार न हो तो वह स्वभाव हो जायगा।

अरे भाई ! कर्म तो बिचारे जड़–अजीव हैं, परद्रव्य हैं, ये तो स्वद्रव्य को छूते भी नहीं। जब ऐसी वस्तु-स्थिति है तो परद्रव्य से स्वद्रव्य की विकारी पर्याय कैसे होगी ? नहीं होगी। "कर्म से विकार हुआ" यह तो निमित्त का ज्ञान कराने के लिए निमित्तप्रधान कथन है।

मिथ्यात्वदि भावों को जीव स्वतंत्ररूप से अपनी पर्याय में उत्पन्न करता है। जैसे त्रिकाली जीवद्रव्य इनका कारण नहीं है, वैसे परद्रव्य – कर्म भी इनका कारण नहीं है। मिथ्यात्व-भाव का कर्त्ता मिथ्यात्व पर्याय है। मिथ्यात्व की पर्याय कर्त्ता, मिथ्यात्व की पर्याय कर्म, मिथ्यात्व की पर्याय स्वयं साधन, मिथ्यात्व का परिणाम स्वयं संप्रदान, मिथ्यात्व में से मिथ्यात्व हुआ वह अपादान और मिथ्यात्व के आधार से मिथ्यात्व हुआ वह अधिकरण; इसप्रकार मिथ्यात्व की विकारी पर्याय कर्त्ता-

कर्म आदि अपने षट्कारक से स्वतंत्रपने उत्पन्न होती है, इसे निमित्त की या कर्म के षट्कारकों की कोई अपेक्षा नहीं है।

देखो, जीव विकार की पर्याय को करे ऐसा उसका स्वभाव नहीं है, क्योंकि जीव में ऐसी कोई शक्ति नहीं जो विकार को करे। आत्मा में ज्ञान, दर्शन, आनन्द, अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रभुत्व आदि अनंत-अनंत शक्तियाँ भरी हैं, पर इसमें ऐसी कोई शक्ति नहीं जो विकार को उत्पन्न करे। शक्तियाँ तो सब निर्मल ही निर्मल हैं।

प्रश्न – पर्याय में विकार तो होता है।

उत्तर – हाँ पर्याय में जो विकार होता है, वह अपने समय के षट्कारकरूप परिणमन से स्वतंत्रपने होता है। जीव-द्रव्य उसका कारण नहीं है और निमित्त – कर्म भी इसका वास्तविक कारण नहीं है। पंचास्तिकाय गाथा ६२ में यह बात आयी है। लोगों को यह बात स्वीकार करना कठिन पड़ता है, परन्तु सत्य बात यही है।

इसी तरह मोक्षमार्ग की जो पर्याय – सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल रत्नत्रय पर्याय निश्चय से अपने-अपने काल में अपने षट्कारक से उत्पन्न होती है, उसे परम पारिणामिक-भावलक्षण त्रिकाली शुद्ध द्रव्य-गुण को भी अपेक्षा नहीं है, और दया, दान, व्रत,पूजा आदि व्यवहार-रत्नत्रय की भी अपेक्षा नहीं है। वीतराग का मार्ग ऐसा सूक्ष्म है भाई! राग की क्रिया करते-करते धर्म हो जाये, वीतराग के मार्ग में ऐसा नहीं है। यह तो अज्ञानी लोगों द्वारा कल्पना करके खड़ी की हुई बात है। अरे! लोगों ने मार्ग को भ्रष्ट कर दिया है।

भाई! मोक्ष का मार्ग अर्थात् सम्यग्दर्शनादि निर्मल रत्नत्रय पर्याय स्वतंत्रपने प्रगट हुई है, इसे त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा नहीं है और बाह्य व्यवहार-कारकों की अपेक्षा नहीं है।

सम्यग्दर्शन पर्याय अपने षट्कारक से स्वतंत्र उत्पन्न हुई है। सम्यग्दर्शन का कर्त्ता सम्यग्दर्शन पर्याय स्वयं है, इसका कर्म भी वही पर्याय है, इसका साधन, संप्रदान, अपादान और अधिकरण भी वह पर्याय स्वयं ही है। अहो ! संतों ने आढ़तिया होकर सर्वज्ञ परमात्मा के द्वारा कही हुई बात जगत के समक्ष जाहिर की है।

अहाहा ! आत्मा शुद्ध-पारिणामिकभावरूप सहजानंद प्रभु, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनंद, पूर्ण स्वच्छता, पूर्ण प्रभुता आदि पूर्ण शक्तियों से भरा हुआ पूर्णानन्दघन भगवान है। उसका अवलबन करने वाली अर्थात् उसे विषय करने वाली उपशमादि-भावत्रयरूप यह भावना समस्त रागादि से रहित है। देखो, क्या कहा ? जिसे आगम भाषा से उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक-भावत्रयरूप कहा और अध्यात्म भाषा से "शुद्धात्माभिमुख" "शुद्धोपयोग" इत्यादि पर्यायसज्ञा दी है – ऐसी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल रत्नत्रयभावना शुद्धपारिणामिक भाव का अवलंबन करने वाली है और समस्त रागादि से रहित है।

यह टीका करनेवाले जयसेनाचार्यदेव, नग्न दिगम्बर सत थे, वे अन्तर में आत्मा के प्रचुर आनंदरस का स्वाद निरन्तर लेते रहते थे, वन में निवास करते थे। नौ सौ वर्ष पहले उन्होंने यह टीका बनाई है। टीका में वे कहते हैं – भगवान आत्मा त्रिकाल चिदानदघन, नित्यानंद प्रभु है, इसके आश्रय से - इसके अवलबन से - इसके लक्ष्य से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल मोक्षमार्ग पर्याय प्रगट होती है, वह भावनारूप पर्याय उपशमादि भावत्रयरूप है। यहाँ चौथे, पाँचवें और छठवें गुण-स्थान के क्षायिकभाव की बात है, केवली भगवान के क्षायिक-भाव की बात नहीं है। चौथे गुणस्थान में भी क्षायिकसम्यक्त्व प्रगट होता है, उसकी यहाँ बात है।

श्रेणिक राजा को क्षायिक सम्यक्त्व था, उन्होंने तीर्थंकर नामकर्म बांधा था, परन्तु पूर्व में नरकगति की आयु बंध गई थी इसलिये योग्यतावश नरक के संयोग में गये हैं, परन्तु उन्हें राग से भिन्न पूर्णानंदस्वरूप निज-परमात्मद्रव्य का अन्दर में भान है, और साथ में आनंद का वेदन भी है। शीलपाहुड में आता है कि धर्मी जीव को नरकगति में भी शील है। अहाहा! जिसने पूर्णानंद के नाथ को अन्दर में खोजकर प्राप्त किया और सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट किया, उसे स्वरूपाचरणरूप स्थिरता भी होती ही है। अपने स्वरूप की श्रद्धा, स्वरूप का ज्ञान और स्वरूप का आचरण – ये तीनों मिलकर शील कहलाते हैं। शील अर्थात् मात्र शरीर से ब्रह्मचर्य पालना नहीं है, क्योंकि यह तो अकेली राग की क्रिया है, जबकि स्वरूप के श्रद्धान-ज्ञान-चारित्ररूप शील तो राग से भिन्न है। मार्ग तो ऐसा है भाई!

शुभराग में जितना अशुभराग टला वह शुद्धता है – ऐसा कहना यथार्थ नहीं है। सम्यग्दर्शन और आत्मा का अनुभव होने के बाद शुभराग आता है, उसमें अशुभराग टलता है। सम्यग्दर्शन के बाद शेष रहने वाले शुभ राग का क्रमशः अभाव होते हुए पूर्ण अभाव होने पर मोक्ष प्रगट होता है। शुभराग रहे और मोक्ष प्रगट हो, ऐसा नहीं बनता। बापू! शुभराग तो बंध का ही कारण है।

इन उपशमादि तीनों भावों को समस्त रागादि रहित कहा है। भाई! राग का कोई भी अंश मोक्ष का मार्ग नहीं हो सकता। जिस भाव से तीर्थङ्कर प्रकृति बंधती है वह भाव भी राग है और बंध का ही कारण है। वह राग उपशम, क्षयोपशम या क्षायिकभावरूप नहीं है। वह शुभराग है, उदयभाव है, बंध परिणाम है, जबकि उपशमादि भावत्रय मोक्षमार्गरूप हैं, अबंधरूप हैं।

देखो, सोलह कारण भावना सम्यग्दृष्टि को ही होती है, अज्ञानी को नहीं होती। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को षोडश-कारण भावनाओं का राग आता है, पर वह बंध का ही कारण है, वह कोई अबंध परिणाम नहीं। यहाँ तो यह चोखी बात है कि भावत्रयस्वरूप मोक्ष का मार्ग समस्त रागादि से रहित है।

प्रश्न – धर्मी पुरुष के उपशमादिभाव के समय भी राग तो होता है, तो उसे समस्त रागादि रहित कैसे कहा है ?

उत्तर – भाई ! उपशमादि निर्मल भाव तो रागरहित ही हैं, उस काल में धर्मी को राग भले हो, पर वह तो उपशमादि से भिन्न उदयभावरूप है, वह राग उपशमादिभावों में नहीं समाता। आंशिक शुद्धता और आंशिक राग दोनों एक-साथ होने पर भी दोनों भिन्न-भिन्न हैं। वहाँ उपशमादिभाव मोक्ष का कारण हैं और जो रागांश है, वह बंध का ही कारण है, वह मोक्ष का कारण जरा भी नहीं है। इसप्रकार मोक्ष का कारण जो उपशमादि निर्मल भाव है, वह समस्त राग-रहित ही है।

त्रिकालभावरूप शुद्ध-द्रव्य और उसका अवलम्बन करके प्रगट होने वाली भावनारूप परिणति – ये दोनों शुद्ध हैं, पवित्र हैं। जैसे त्रिकाली ध्रुव आत्मद्रव्य में राग नहीं हैं, वैसे उसमें झुकी हुई परिणति में भी राग नहीं है। अहा ! जिसमें शुद्ध चैतन्यभाव का भवन (परिणमन) हुआ हो, शुद्धात्मा की ऐसी भावना परम अमृतस्वरूप है। ऐसी भावनारूप परिणति चौथे गुणस्थान से शुरू होती है। उपशमादि तीनों भाव चौथे गुण-स्थान में भी होते हैं। सम्यक्त्व प्रगट होने के काल में तथा उसके बाद भी जितनी शुद्ध परिणति हुई है, उसका नाम "भावना" है और वह मोक्ष का साधन है।

जो लोग कहते हैं कि, **चौथे** गुणस्थान में शुद्धोपयोग होता ही नहीं; उन्हें सम्यक्त्व क्या चीज है ? भगवान का मार्ग क्या है – इसकी खबर ही नहीं है। भाई ! शुद्धोपयोग बिना अकेले राग से तू मोक्षमार्ग मान ले परन्तु, वह वीतराग का मार्ग नहीं है। चौथे गुणस्थान में उपशम सम्यग्दर्शन शुद्धोपयोगपूर्वक ही होता हैं – यह सिद्धान्त है। शुभराग द्वारा सम्यग्दर्शन हो – ऐसा कभी होता ही नहीं। शुद्धात्मभावना शुद्धद्रव्य का अवलंबन करने वाली है, राग का नहीं। राग में ये ताकत नहीं कि वह शुद्ध द्रव्य को भा सके। राग की मन्दता द्वारा अन्तःप्रवेश करना शक्य ही नहीं तो उससे सम्यग्दर्शनादि कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता। भाई ! वीतराग का मार्ग तो रागरहित ही है।

भगवान आत्मा निजस्वरूप प्रभु है। आता है न कि–

जिन सो हो है आत्मा, अन्य सो हो है कर्म।
इसी वचन से समझले, जिन प्रवचन का मर्म।।

यह आत्मा सदा जिनस्वरूप - वीतरागस्वरूप - परमात्मस्वरूप ही है। यदि आत्मा स्वयं वीतरागस्वरूप न हो तो पर्याय में वीतरागता आएगी कहाँ से ? भगवान अरहन्तदेव को वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट हुआ, वह शुद्धात्मभावना की पूर्णता द्वारा प्रगट हुआ है। मोक्षमार्ग रूप शुद्धात्मभावना समस्त रागादि से रहित है, राग का – विकल्प का अंश भी इसमें नहीं समाता।

देखो, यह सस्कृत टीका नौ सौ वर्ष पहले श्री जयसेनाचार्यदेव ने रची है। इसमें ऐसी चोखी बात की है कि तीनभाव रूप शुद्धात्म भावना समस्त रागादि रहित होने के कारण शुद्ध-उपादान कारणभूत होने से मोक्ष का कारण है। भाई ! चौथे गुणस्थान में भी जो निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणाम

प्रगट हुआ है, वह रागादि रहित परिणाम है। यह तो जिनेश्वर-जिनचन्द भगवान सर्वज्ञ परमात्मा के घर की बात है। बापू श्री सीमन्धर परमात्मा महाविदेह क्षेत्र में तीर्थङ्कर पद में वर्तमान में विराजते हैं, उनकी दिव्यध्वनि के सार रूप यह बात है। अहो! दिगम्बर सन्तों ने इसमें तो केवलज्ञान का कक्का (प्रारम्भिक उपाय) बताया है।

यहाँ कहते हैं – यह भावना जो तीनभावरूप है वह समस्त रागादि रहित होने के कारण शुद्ध-उपादान कारणभूत होने से मोक्ष का कारण है। यहाँ पर्यायरूप शुद्ध-उपादान की बात है। त्रिकाली शुद्ध-उपादान कि जो शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय का विषय है, उसकी बात तो पहले आ गई है। यहाँ पर्याय के शुद्ध-उपादान की बात है।

उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक – ये तीनों वीतरागी निर्मल पर्यायें हैं। वह वीतरागी पर्याय समस्त रागादि से रहित शुद्ध-उपादान कारणभूत है, इसलिए मोक्ष का कारण है। अहा! निर्मल पर्याय स्वयं हो शुद्ध-उपादान कारणभूत है। क्या कहा? यह पर्याय स्वयं ही स्वयं का उपादान कारण है। अहो! यह तो कोई अलौकिक शैली से बात है। ऐसी बात भगवान केवली के मार्ग के सिवा अन्यत्र कहीं नहीं है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल पर्याय का विषय त्रिकाली द्रव्य है। वर्तमान भावनारूप जो निर्मल पर्याय वह शुद्ध त्रिकाली को अवलबती है। धर्म की दशा और मोक्ष की दशा शुद्ध पारिणामिकभावस्वरूप त्रिकाली (द्रव्य) का अवलंबन करती है, वह राग का अवलंबन नहीं करती तथा वर्तमान पर्याय का भी अवलंबन नहीं करती। निर्मल पर्याय का विषय पर्याय नहीं है। सम्यग्दर्शन की पर्याय त्रिकाली को अवलंबती हुई अपने षट्कारक से स्वतंत्रपने प्रगट होती है। यह तो अनुपम

अमृत है भाई ! अहो ! आचार्यदेव ने इस पंचमकाल में अमृत बरसाया है।

देखो, नियमसार में आचार्यदेव ने ऐसा कहा है कि, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकभाव जो निर्मल वीतरागी धर्म की पर्याय है, उसे हम परद्रव्य कहते हैं। अहाहा ! वह परभाव है, परद्रव्य है और इसलिये हेय है – ऐसा वहाँ कहा है। क्या कहा ? व्यवहार-रत्नत्रय का राग तो हेय है ही, पर शुद्ध आत्मद्रव्य की दृष्टि होने पर जिसमें अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद आता है, वह मोक्षमार्ग की निर्मल पर्याय भी त्रिकाली द्रव्य की दृष्टि से परभाव है, परद्रव्य है और इसलिये हेय है, अर्थात् वह पर्याय भी अवलंबन योग्य नहीं है। अहाहा ! निर्मल पर्याय को उस पर्याय का अवलंबन नहीं है। जैसे राग आश्रय योग्य नहीं है, वैसे निर्मल पर्याय भी आश्रय योग्य नहीं है।

अरे भाई ! तू दुखी होकर चारगति में रखड़ता हुआ जन्म-मरण कर रहा है। चारों गतियों में तुझे जो मिथ्यात्व का भाव हुआ वह संसार है, अन्य वस्तु, स्त्री-पुत्र, कुटुम्ब-कबीला वगैरह कोई संसार नहीं है। राग के साथ एकत्वबुद्धि रूप मिथ्यात्व का भाव ही संसार है। बापू ! तूने स्त्री-पुत्र, छोड़े, दूकान वगैरह छोड़ी, इसलिये संसार छोड़ा – ऐसा तू मानता है, पर यह मान्यता मिथ्या है। मिथ्यात्व के छोड़े बिना संसार कभी छूटता ही नहीं है। ऐसे तो अनंतकाल में अनंतबार नग्न दिगम्बर मुनि हुआ, पर इससे क्या ? छहढाला में आता है–

मुनिव्रत धार अनंतबार, ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो।

ऐसी बात कड़क लगती है, इसलिये लोग विरोध करते हैं, पर भाई ! तीन काल में कभी फिरे नहीं ऐसी यह परम

सत्य बात है। विरोध करो तो करो, पर तेरे ऐसे परिणाम से तुझे बहुत नुकसान होगा।

व्यवहार-रत्नत्रय मोक्षमार्ग है ही नहीं, वास्तव में वह बंध का ही कारण है। मोक्षमार्ग दो नहीं, इसका निरूपण दो प्रकार से है। निश्चय से मोक्ष का मार्ग तो समस्त रागादि से रहित है और वह शुद्ध-उपादानकारणभूत है। राग मोक्षमार्ग भी नहीं, और उसका कारण भी नहीं है।

समाधितंत्र श्लोक ६१ के विशेष अर्थ में लिखा है कि निमित्त होने पर भी, निमित्त से निरपेक्ष उपादान का परिणमन होता है। जयधवल पृष्ठ ११७, पुस्तक सात में लिखा है –

बज्झकारण-निरपेक्खो बत्थुपरिणामो।

वस्तु का परिणाम बाह्य कारण से निरपेक्ष होता है। यहाँ यह बात समझने के लिये दृष्टान्त देते हैं।

देखो, दशमें गुणस्थान में लोभ का परिणाम एक है, तो भी कर्मों की स्थिति में फेर पड़ता है। निमित्तरूप से लाभ का एक ही परिणाम होने पर भी किसी कर्म की स्थिति आठ मुहूर्त की और किसी की स्थिति अन्तरमुहूर्त की पड़ती है। इसका कारण क्या ? नीचे के गुणस्थानों में भी ऐसा है, यहाँ तो लोभ के अन्तिम परिणाम की बात करते हैं। लोभ का एक ही परिणाम निमित्त कारण होने पर भी कर्म के स्थिति-बन्ध में फेर पड़ता है। नाम और गोत्रकर्म की स्थिति आठ मुहूर्त की बन्धती है, जबकि ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म की स्थिति का बन्ध अन्तरमुहूर्त का पड़ता है। ऐसा क्यों ? तो कहते हैं – वह स्थितिबन्ध की पर्याय स्वतन्त्र है, उसे कोई बाह्य कारण की अपेक्षा नहीं है अर्थात् वस्तु का परिणाम बाह्य कारण से निरपेक्ष होता है।

हम तो यह बात बहुत समय से कहते हैं। किसी कर्म की प्रकृति में परमाणु कम आते हैं, तो किसी कर्म की प्रकृति में परमाणु अधिक आते हैं। वहाँ मिथ्यात्व और रागादि परिणाम तो एक ही है, तो भी ऐसा बनता है, उसका क्या ? बस यही कि वस्तु के परिणाम बाह्य कारण से निरपेक्ष हैं। प्रत्येक कार्य अंतरंग कारण से ही होता है, उसे बाह्य कारणों की अपेक्षा है ही नहीं। अहाहा ! मोक्ष का मार्ग जो अंदर प्रगट होता है उसे बाह्य कारण की – व्यवहाररत्नत्रय की कोई अपेक्षा नहीं, मोक्षमार्ग की पर्याय शुद्धउपादानकारणभूत है। अहो ! सर्वज्ञ के मार्गपर चलनेवालों ने सर्वज्ञ होने की ऐसी अलौकिक बात की है। जिसका परम भाग्य हो उसे यह बात सुनने मिलती है।

अहाहा ! शुद्ध एक ज्ञायकस्वभाव को अवलंबने वाली भावना रागादि रहित होने से शुद्ध उपादान कारणभूत होने से मोक्ष के कारणरूप हैं। उस भावना को बाह्य कारण की – व्यवहारकारण की अपेक्षा नहीं है। यह बात सुनकर केवल व्यवहार के पक्षवाले कहते हैं – निश्चय और व्यवहार – ऐसे दो मोक्षमार्ग हैं।

अरे भाई ! तुझे खबर नहीं भगवान। निश्चय मोक्ष-मार्ग एक ही सत्यार्थ मोक्षमार्ग है, व्यवहार मोक्षमार्ग वास्तविक मार्ग नहीं, वह तो उपचारमात्र है। वास्तव में तो वह राग है, बंध का कारण है। व्यवहारमोक्षमार्ग को ही सत्यार्थ मोक्षमार्ग मानकर अनंतकाल से तू रखड़ने के मार्ग पर चढ़ गया है। मार्ग का यथार्थ स्वरूप समझे बिना एकेन्द्रिय आदि में अनंत – अनंत अवतार धारण करके तू हैरान हो गया है प्रभु !

विक्रम सम्बत् १९८० में एकबार बोटाद में हमने व्याख्यान में कहा था कि जिस भाव से तीर्थङ्कर गोत्र बंधता है वह भाव भी धर्म नहीं है – यह बात स्वीकार करना बहुत कठिन है तो भी लोग सुनते थे, क्योंकि उन्हें हमारे ऊपर विश्वास था। उस समय व्याख्यान में पंद्रहसौ – पंद्रहसौ लोग आते थे। तब हम स्थानकवासी सम्प्रदाय में थे। इस देह की उम्र कम थो। बाहर में नाम बहुत प्रसिद्ध था न? इसलिए हजारों लोग आते थे। तब हमने यह बात कही थी कि तीर्थङ्कर प्रकृति का बंध सम्यग्दृष्टि को ही होता है, अज्ञानी को नहीं होता, तो भी तीर्थङ्कर प्रकृति का कारणभूत परिणाम धर्म नहीं है। अहाहा! जिस भाव से बंध हो, वह भाव धर्म या धर्म का कारण कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। भाई! मुनिराज को होनेवाला पंचमहाव्रत का परिणाम राग है, इसलिए वह आस्रवभाव है, बंध का कारण है। यह बात सुनकर बहुत से लोगों को खलबलाहट हो जाती है, पर भाई! यह त्रिलोकनाथ जैन परमेश्वर की वाणी में आई हुई परम सत्य बात है।

ज्ञानी को शुभभाव आता जरूर है, जिसे आत्मज्ञान और स्वानुभव प्रगट हुआ है, उसे क्रम से आगे बढ़ाते हुए बीच में यथायोग्य शुभभाव आता है, पर इससे धर्म होता है – ऐसा नहीं है। धर्म तो रागरहित शुद्धउपादानकारणभूत है। शुभ-भाव छोड़कर अन्दर आत्मानुभव में स्थिरता हो, तब आगे-आगे के गुणस्थान प्रगट होते हैं। साधक को बीच में भूमिका योग्य व्यवहार आता जरूर है, पर उसके लिए वह हेय है।

नियमसार में तो मोक्षमार्ग की पर्याय को भी कहा है, क्योंकि वह आश्रय योग्य नहीं है। वस्तुस्थिति ही ऐसी है बापू, किसी की कल्पना से वस्तुस्थिति नहीं बदलती। अहाहा!

चिदानंदघन प्रभु अन्दर त्रिकाली सत्वस्तु है, उसके लक्ष्य से – उसके आश्रय से – उसके अवलंबन से जो शुद्धात्मभावना प्रगट होती है, वह सर्वथा रागरहित है और शुद्धउपादानकारणभूत है। यह बात संप्रदाय बुद्धिवालों को (पक्षवालों को) कठिन पड़ती है, पर क्या करें ? फिर भी अब तो लाखों लोग इस बात को समझने लगे हैं।

जिसे यह बात नहीं बैठती वे कहते हैं कि, व्रत लो, प्रतिमा धारण करो, इससे धर्म हो जायेगा। पर भाई ! सम्यग्दर्शन बिना प्रतिमा होगी कहाँ से ? अभी सम्यक्त्व दशा कैसी होती है, और वह कैसे प्रगटे ? जिसे इसकी भी खबर नहीं, उसे प्रतिमा कैसी ? उसे व्रत कैसे ? यहाँ तो एकदम सच्ची बात है कि मोक्षमार्ग की भावनारूप पर्याय रागरहित शुद्ध-उपादानकारणभूत है अर्थात् वह प्रतिमा आदि की अपेक्षा रहित है।

कुछ लोग कहते हैं – कार्य उपादान से भी होता है और निमित्त से भी होता है, परन्तु भाई ! यह बात यथार्थ नहीं है। दो कारणों से कार्य होता है – ऐसा शास्त्र में आता है। निमित्त का ज्ञान कराने के लिये उपचार से दूसरी चीज को कारण कहा है, पर वह सत्यार्थ कारण नहीं है, सत्यार्थ कारण तो एक उपादान कारण है। इसप्रकार मोक्ष का मार्ग और उसका कारण एक ही प्रकार का है।

चिद्विलास में पं. दीपचंदजी ने बहुत सरस बात कही है। वे कहते हैं – पर्याय का कारण पर्याय ही है। गुण बिना ही (गुण की अपेक्षा बिना ही) पर्याय की सत्ता पर्याय का कारण है, पर्याय का प्रदेशत्व पर्याय का कारण है। जिन प्रदेशों में पर्याय उत्पन्न होती है, वे प्रदेश पर्याय के कारण हैं, ध्रुव के प्रदेश नहीं।

देखो, आत्मा के पांच भावों में कौन सा भाव मोक्ष का कारण है ? यह बात चलती है। एक शुद्ध चैतन्य स्वभाव की भावना से प्रगट हुए औपशमिकादि तीन भाव मोक्ष के कारण हैं, और वे तीनों भाव रागादि रहित शुद्ध हैं। राग औदयिक भाव है और वह मोक्ष का कारण नहीं है। इसप्रकार अस्ति – नास्तिरूप मोक्षमार्ग का स्वरूप कहा। ऐसे मोक्षमार्ग की शुरूआत चौथे गुणस्थान से होती है। शुद्ध-आत्मद्रव्य का अवलंबन चौथे गुणस्थान से ही शुरू होता है। वहाँ जितना शुद्धात्मा का अवलंबन है, उतनी शुद्धता है और उस शुद्धता को ही उपशमादि भावत्रय कहते हैं। उदयभाव – रागभाव तो इससे बाहर ही है।

प्रश्न – परन्तु उपशमादि भावों के काल में राग होता है न ?

उत्तर – हाँ, होता है न ? उस काल में राग हो, पर इससे क्या ? सारी दुनिया है, पर जिसप्रकार ज्ञान इनसे जुदा है और इनका कर्त्ता नहीं है, उसीप्रकार ज्ञान राग का भी कर्त्ता नहीं और भोक्ता नहीं है, मात्र जानता ही है। भाई ! समकिती (सम्यग्दृष्टि) के सम्यक्त्वादि निर्मल भाव राग से मुक्त ही हैं, भिन्न ही हैं। अहो। भगवान आत्मा तो राग से भिन्न है ही, और परिणति स्वाभिमुख हुई तो वह भी राग से भिन्न ही हुई। भाई ! राग, राग में हो, पर राग ज्ञान में नहीं है, क्योंकि ज्ञान ने राग को ग्रहण ही नहीं किया। राग ज्ञान में जाना गया है, परन्तु मैं राग रूप हूँ इसप्रकार ज्ञान ने राग को पकड़ा नहीं है। मैं तो ज्ञान हूँ – इसप्रकार ज्ञान अपने को ज्ञानरूप ही वेदता है। ऐसे वेदन के साथ में आनंद है, पर इसमें राग नहीं है।

अरे जीव ! मोक्ष के कारणरूप तेरी निर्मलदशा कैसी होती है, उसे देख तो सही ! स्वरूप संपदा को देखनेपर वह प्रगट होती है। मोक्ष के कारणरूप वह दशा –

१. एक शुद्ध परम स्वभाव भाव का ही अवलंबन करनेवाली है, पर का और राग का अवलंबन करने वाली नहीं है।

२. देह, मन, वचन आदि जगत के सर्व अन्य पदार्थों से भिन्न है।

३. पुण्य-पाप आदि भावकर्म से भी भिन्न है। उसमें राग का एक कण भी नहीं समाता।

४. शुद्ध-उपादान कारणभूत है।

अहा ! मोक्ष के कारणरूप वह दशा स्वरूप के श्रद्धान – ज्ञान – रमणता आदि निज भावों से भरपूर है। समकिती की स्वावलंबन से प्रगटी चैतन्यसंपदा के आगे जगत की जड़संपदा की कुछ कीमत नहीं है, क्योंकि पुण्य के अधीन यह सम्पदा परम – सुखमय मोक्ष देने में समर्थ नहीं है।

बापू ! वीतराग का मार्ग राग से सदा ही भिन्न है। चौथे गुणस्थान में शुद्धता का जो अल्प अंश प्रगट हुआ, उसमें भी राग का अभाव ही है। शुद्धता में राग नहीं और राग में शुद्धता नहीं; दोनों की जाति भिन्न है। सम्यग्दृष्टि के द्रव्य में राग नहीं, गुण में राग नहीं, और जो निर्मल परिणति हुई उसमें भी राग नहीं है। इसप्रकार उसके द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों ही रागरहित शुद्ध वर्तते हैं। अभेद एक "शुद्ध" की भावना से उन्हें शुद्धता का परिणमन हुआ करता है ऐसी शुद्धता की पूर्णता होना मोक्ष है, और आंशिक शुद्धता मोक्षमार्ग है। श्रीमद् ने कहा है –

"मोक्ष कह्यो निज शुद्धता, ते पामे ते पंथ"

आत्मा की शुद्धता को मोक्ष कहा है, उसे प्राप्त करना ही मोक्ष का मार्ग है। इसप्रकार कारण – कार्य एक जाति के ही होते हैं। शुभराग कारण होकर अशुद्ध कार्य को ही करता है, पर वह शुद्ध कार्य को करे – ऐसा कभी नहीं होता। शुद्ध कार्य का कारण तो शुद्ध ही होता है, रागरहित ही होता है। ऐसा वस्तुस्वरूप होने पर भी कोई बाह्य में होनेवाली जड़ की क्रियाओं को मोक्ष का कारण माने तो यह उसकी निरी मूढ़ता ही है।

समकिती को स्व-आश्रय से जितनी शुद्ध-उपादानरूप परिणति हुई है उतना मोक्ष का कारण है। ध्रुवभावरूप, अक्रिय त्रिकाली शुद्ध-द्रव्य मोक्ष का कारण नहीं होता, तथा शुद्ध-द्रव्य से विमुखरूप वर्तते भाव भी मोक्ष के कारण नहीं होते, शुद्ध-द्रव्य के सन्मुख होकर वर्तते निर्मलभाव ही मोक्ष के कारण होते हैं। इसप्रकार यहाँ पर्याय में कारण-कार्यपना कहा है। ऐसे तो उस-उस समय की पर्याय अपने-अपने समय में शुद्ध-द्रव्य का अवलम्बन करके स्वयं पूर्ण शुद्धरूप से प्रगट होती है, वह पूर्व पर्याय में से नहीं आती। पर पूर्व में इतनी शुद्धि-पूर्वक ही पूर्ण शुद्धता होती है इसलिये उनमें कारण-कार्यपना कहा, और उनसे विरुद्ध भावों का निषेध किया है। इसप्रकार किस भाव से मोक्ष साधा जाता है – यह बताया है।

औपशमिकादि भावत्रयरूप शुद्धात्मभावना मोक्ष का कारण है, परन्तु शुद्ध-पारिणामिकभाव मोक्ष का कारण नहीं है। यह बनिया माल लेने जाता है तो बुद्धि का प्रयोग करता है, मोल भाव कर करके माल खरीदता है, पर यहाँ धर्म की बात आए तो उसमें "जयनारायण" करे, हाँजी हाँ करे, यहाँ बुद्धि का प्रयोग नहीं करता। पर भाई! यह तो त्रिलोकनाथ

जैन परमेश्वर सर्वज्ञदेव की वाणी है। अहा ! जिनकी सभा में इन्द्र, मुनिराज और गणधर विराजते हों, नाग और बाघ भी जिनकी वाणी सुनते हों वह वाणी कैसी होगी बापू ! दया करो, व्रत पालो, भक्ति करो – ऐसी बातें तो कुंभार भी करते हैं, इसमें क्या नया है ? पचास वर्ष पहले तो ऐसा रिवाज था कि श्रावणमास में कुँभार अवा लगाना बन्द कर देता था, तेली घानी नहीं पेलता था। पर भाई ! यह धर्मरूप परिणाम नहीं है।

मोक्ष का मार्गरूप निर्मल रत्नत्रय मोक्ष का कारण है, परन्तु त्रिकाली शुद्ध-द्रव्य मोक्ष का कारण नहीं है। अहाहा ! चिदानन्दघन प्रभु भगवान आत्मा, जिसे कारण जीव, कारण परमात्मा कहते हैं, वह मोक्ष का कारण नहीं है। भाई जहाँ जिस पद्धति से बात हो, वहाँ उसे यथार्थ समझना चाहिए। यदि त्रिकाली भावरूप कारण परमात्मा मोक्ष का कारण हो तो मोक्षरूप कार्य सदा ही होना चाहिये, क्योंकि द्रव्य तो सदैव विद्यमान है। परन्तु मोक्षरूप कार्य तो नया प्रगट होता है, इसलिये उसका कारण त्रिकाली शुद्ध-द्रव्य नहीं, परन्तु पर्याय है। अहाहा ! कारण परमात्म द्रव्य सदा ही शुद्ध है, इसका भान करके पर्याय जब इसकी भावनारूप परिणमी, इसमें एकाकार होकर परिणमी, तब वह शुद्ध होकर मोक्ष का कारण हुई। इसप्रकार मोक्ष का कारण पर्याय है, शुद्ध द्रव्य नहीं।

प्रश्न – आप कहते हैं कि कारण-परमात्मा अनादि से विद्यमान है, तो उसका कार्य क्यों नहीं होता ? कारण है तो उसका कार्य होना चाहिए न ?

समाधान – कारण परमात्मा तो त्रिकाल सत् है। पर तूने इसका अस्तित्व कहाँ माना है ? इसे स्वीकार किये बिना पर्याय में इसका कार्य कहाँ से होगा ? जब पर्याय स्वाभिमुख

होकर वर्तती है, तब इसका कार्य आता ही है। कार्य तो पर्याय में आता है, परन्तु स्वाभिमुख हो तब। इसप्रकार स्वाभिमुख पर्याय मोक्ष का कारण होती है, त्रिकाली शुद्ध-द्रव्य नहीं, क्योंकि द्रव्य तो अक्रिय – अपरिणामी है।

इसप्रकार मोक्ष का कारण दर्शाकर अब शक्तिरूप और व्यक्तिरूप मोक्ष की चर्चा करते हैं।

"जो शक्तिरूप मोक्ष है वह तो शुद्ध पारिणामिक है, वह प्रथम से ही विद्यमान है। यह तो व्यक्तिरूप मोक्ष का विचार चलता है।"

भगवान आत्मा शुद्ध शक्तिरूप त्रिकाल मोक्षस्वरूप अबंधस्वरूप है। समयसार गाथा १४-१५ में आत्मा को "अबद्धस्पृष्ट" कहा है। अबद्ध कहो या मुक्त कहो, एक ही बात है। भगवान आत्मा तो शक्तिरूप से, स्वभाव से त्रिकाल मोक्षस्वरूप प्रथम से ही विद्यमान हैं। इसका मोक्ष करना है – ऐसा नहीं है, यह त्रिकाल मोक्षस्वरूप ही है, प्रथम से ही मोक्षस्वरूप है।

पन्द्रहवीं गाथा में कहा है – जो कोई आत्मा को अबद्ध-स्पृष्ट देखता है वह सकल जिनशासन को देखता है। देखो, यह जैनधर्म ! भगवान आत्मा राग और कर्म के संबंध से रहित अबद्धस्पृष्ट है। ऐसे शुद्ध चिदानंद भगवान का जिसने अन्तर्मुख होकर अनुभव किया, वह सर्व जिनशासन को देखता है। वह जिनशासन बाह्य में द्रव्यश्रुत तथा अभ्यन्तर में ज्ञानरूप भाव-श्रुतवाला है अहा ! जिस पुरुष ने निज शुद्धोपयोग में आत्मा-नुभव करके मोक्षमार्ग प्रगट किया उसने सकल जिनशासन देखा। यह जिनशासन एक वीतराग भावरूप है।

वीतरागी संत, मुनिवर श्री जयसेनाचार्यदेव कहते हैं – मोक्ष के दो प्रकार हैं – एक शक्तिरूप मोक्ष और दूसरा व्यक्ति-

रूप मोक्ष। पर्याय में परिणमन होकर आत्मा का व्यक्तिरूप में पूर्ण लाभ प्राप्त होना व्यक्तिरूप मोक्ष है और शुद्ध-पारिणामिक स्वभावरूप वस्तु त्रिकाल शक्तिरूप मोक्ष है। त्रिकाल परम स्वभाव भावरूप जो शक्तिरूप मोक्ष है, उसमें मोक्ष करना है – ऐसा नहीं है, क्योंकि वह तो प्रथम से ही मोक्षस्वरूप है और उसका आश्रय करके परिपूर्ण स्वभावरूप प्रगट होने वाली पर्याय व्यक्तिरूप मोक्ष है। भाई ! फुरसत निकालकर इस तत्त्व का परिचय करना चाहिए, यह तो वीतराग का मार्ग है बापू !

यहाँ कहते हैं – त्रिकाल शुद्ध – पारिणामिकभाव शक्तिरूप मोक्ष है, वह प्रथम से ही विद्यमान है। यहाँ तो व्यक्तिरूप मोक्ष का विचार चलता है। अहा ! अनंतज्ञान, अनतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य – ऐसा अनंत चतुष्टय व्यक्तिरूप मोक्ष है और वह मोक्षमार्ग की पर्याय से प्राप्त होता है। यह मोक्ष, द्रव्य से प्राप्त नहीं होता – ऐसा यहाँ कहना है। यह बात दुनियाँ को नहीं रुचेगी, परन्तु भाई ! पर्याय में जो मोक्ष होता है वह मोक्षमार्ग के कारण से होता है, जैसे पर-पदार्थ उसका कारण नहीं है, वैसे त्रिकाली द्रव्य भी उसका कारण नहीं है। वास्तव में तो उस – उस पर्याय का शुद्ध-उपादान ही उस पर्याय का कारण है।

यहाँ मोक्षमार्ग की पर्याय को मोक्ष का कारण कहा है, यह बात भी किसी अपेक्षा से है। मोक्षमार्ग की पर्याय का व्यय होकर मोक्ष की पर्याय प्रगट होती है – इस अपेक्षा से उसे मोक्ष का कारण कहा है।

अहो ! आचार्यदेव ने आत्मा का त्रिकाली ध्रुवस्वभाव और इसके आश्रय से प्रगट होने वाला मोक्षमार्ग समझाकर अंतर का खजाना खोल दिया है। हे भाई ! तेरा चैतन्य खजाना अंदर मोक्षस्वभाव से भरपूर है। इसमें अन्दर उतर कर जितना

चाहिये उतना निकाल, सम्यग्दर्शन निकाल, सम्यग्ज्ञान निकाल, सम्यक्चारित्र निकाल, केवलज्ञान निकाल और मोक्ष निकाल। अहाहा ! सदाकाल इसमें से पूर्ण ज्ञान और आनन्द लिया ही कर, तेरा खजाना घटे – ऐसा नहीं है। तेरा आत्मद्रव्य अविनाशी अनन्त गुणों से भरा हुआ सदा मोक्षस्वरूप ही है। ऐसे निज स्वभाव का ज्ञान-श्रद्धान हुआ उसे मोक्ष प्रगट होने में क्या देर है ? जिसने अन्तर में शक्तिरूप मोक्ष देखा उसे मोक्ष का भणकार आ गया और उसे अल्पकाल में ही व्यक्तिरूप मोक्ष होता है। वस्तु अर्थात् ध्रुव आत्मद्रव्य शक्तिरूप मोक्ष त्रिकाल है, और उसके आश्रय से व्यक्तिरूप मोक्ष नया प्रगट होता है। पर्याय में मिथ्यात्व हो या सम्यक्त्व हो, बन्धन हो या मोक्ष हो, द्रव्यस्वभाव तो त्रिकाल मोक्षस्वरूप ही है, उसमें बन्धन नहीं, आवरण नहीं, अशुद्धता नहीं और अल्पज्ञता भी नहीं है। अहाहा ! वस्तु तो सदा परिपूर्ण ज्ञानघन, आनन्दघन मोक्षस्वरूप ही है। ऐसे निजस्वभाव का अन्तर्मुख होकर भान करने वाले की पर्याय में बन्धन टलकर पूर्ण शुद्ध मोक्षदशा प्रगट होने लगती है। अहो ! मोक्ष का मार्ग ऐसा अलौकिक है और इसका नाम धर्म है।

अब कहते हैं – "**इसीप्रकार सिद्धान्त में कहा है कि "निष्क्रियः शुद्ध पारिणामिकः" अर्थात् शुद्ध-पारिणामिक (भाव) निष्क्रिय है।**"

देखो, यह विशेष स्पष्ट करते हैं कि पारिणामिक ध्रुव स्वभावभाव मोक्ष का कारण नहीं है क्योंकि वह निष्क्रिय है। अहाहा ! शुद्ध-पारिणामिक शुद्ध चेतना मात्र वस्तु में दृष्टि पड़ने पर जो निर्मल परिणमन होता है वह मोक्ष का कारण है, परन्तु शुद्ध पारिणामिक वस्तु मोक्ष का कारण नहीं है, क्योंकि वह उत्पाद-व्यय रहित निष्क्रिय चीज है। इसमें बन्ध-

मार्ग या मोक्षमार्ग की क्रियायें नहीं होती, ऐसी वह निष्क्रिय चीज है। यह बात सूक्ष्म है भाई !

परमार्थ वचनिका में पं० श्री बनारसीदासजी ने कहा है कि "मोक्षमार्ग साधना व्यवहार और शुद्ध द्रव्य अक्रियरूप वह निश्चय है।" तथा अन्त में वहाँ कहा है कि "यह वचनिका यथायोग्य सुमतिप्रमाण केवली वचनानुसार है। जो जीव यह सुनेगा, समझेगा, श्रद्धेगा उसे भाग्यानुसार कल्याणकारी होगी।"

देखो, इसमें क्या कहा ? कि मोक्षमार्ग साधना व्यवहार है। यह शुभराग रूप व्यवहार मोक्षमार्ग व्यवहार है – ऐसा नहीं कहा। भाई ! व्यवहार मोक्षमार्ग तो मार्ग ही नहीं है, यह तो उपचारमात्र, कथनमात्र है, वास्तव में तो यह राग-रूप होने से बन्धरूप ही है। यह तो सर्वज्ञ परमात्मा से सिद्ध हुई बात है, यह कोई कल्पना की बात नहीं है।

"मोक्षमार्ग साधना वह व्यवहार, और शुद्ध द्रव्य अक्रिय वह निश्चय।" इसमें शुद्ध द्रव्य को अक्रिय कहा है। अहा ! वस्तु त्रिकाली नित्यानन्द ध्रुव प्रभु है, वह अक्रिय है। जिसमें मोक्षमार्ग की अथवा मोक्ष की पर्याय भी नहीं – ऐसी त्रिकाली ध्रुव वस्तु अक्रिय है। इसे अक्रिय कहो या निष्क्रिय कहो – एक ही बात है।

त्रिकाली द्रव्य सदा ध्रुव निष्क्रिय तत्त्व है। तथापि उसमें दृष्टि करने से, उसका आश्रय करके परिणमित होने से, शुद्ध अरागी – वीतरागी परिणमन होता है, उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहते हैं। वह मोक्ष का मार्ग है। ऐसा मोक्षमार्ग साधना व्यवहार है। यह धर्मी का व्यवहार और धर्मी की क्रिया है। धर्मात्मा निर्मलरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग को साधता है, वह कहीं व्यवहार-रत्नत्रय को (रागको) नहीं साधता।

अरे ! यह जीव चौरासी लाख योनियों में दुःखी होकर भटक रहा है। कोई शुभभाव हो जाये तो पुण्योदयवश वह एकेन्द्रिय पर्याय से बाहर त्रसपर्याय में आता है। एकेन्द्रिय पर्याय में भी जीव को क्षण में शुभ और क्षण में अशुभ भाव निरन्तर हुआ करता है, पर मनुष्यगति में आवे – ऐसा शुभ-भाव नहीं होता। मनुष्यपने में आये – ऐसा शुभभाव जीव को कभी-कभी होता है। भाई ! पुण्योदयवश तुझे मनुष्यपना मिला है। यदि इस अवसर में निज अन्तःतत्त्व मोक्षस्वरूप आत्मवस्तु में जाये तो सम्यग्दर्शन हो, सम्यग्ज्ञान हो, सम्यक्चारित्र हो, मोक्षमार्ग हो। पर अन्दर न जाये तो ? तो वह अवसर तो चला जा रहा है और एकेन्द्रिय पर्याय से बाहर आये हुए अन्य जीव जैसे एकेन्द्रियादि में चले जाते हैं वैसे तू भी एकेन्द्रियादि में चला जायेगा। छहढाला में आता है न –

जो विमानवासी हूँ थाय, सम्यग्दर्शन बिन दुःख पाय।
तहतैं चय थावर तन धरै, यों परिवर्तन पूरे करै ॥

लोग तो बाह्य व्यवहार की– राग की (जड़) क्रियाओं में धर्म मानते हैं और मनवाते हैं। एकबार खाना या उपवास करना, वह तपस्या है और वह तपस्या मोक्ष का कारण है – ऐसी मान्यता जगत में चलती है। अरे भगवान् ! यह तू क्या करता है ? तूने पूरा मार्ग विपरीत कर दिया प्रभु ! यहाँ तो दिगम्बर सन्त पुकार करके कहते हैं कि त्रिकाली सहजानंद-स्वरूप अक्रिय आत्मवस्तु वह निश्चय है और उसके अवलम्बन से निर्मल परिणमनरूप मोक्षमार्ग साधना वह व्यवहार है। अहाहा ! अक्रिय शुद्ध द्रव्य वह निश्चय और उसके आश्रय से मोक्षमार्ग साधना वह व्यवहार है। जैसी वस्तु है वैसी समझना पड़ेगी। बाहर के जवाहरात आदि के धन्धे कुछ काम आनेवाले नहीं हैं। उलटे इनकी एकत्वबुद्धि से परिणमित होने से कौआ,

कुत्ता आदि की पर्यायों में संसार-समुद्र में गोता खाता हुआ डूब मरेगा।

कितने ही लोग कहते हैं कि आप किसी के साथ बात-चीत (वाद) क्यों नहीं करते? क्या आपको यह मतभेद खड़ा रखना है?

अरे भाई! तू यह क्या कहता है? बापू! यह अध्यात्म की बात वाद-विवाद करने से समझ में आये – ऐसी नहीं है। यह तो अन्तर परिणमन से समझ में आनेवाली चीज है। देखो न, समयसार गाथा ११ के भावार्थ में पं० श्री जयचन्दजी ने कैसा सरस स्पष्टीकरण किया है –

१. प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादि-काल से ही है।

२. और इसका उपदेश बहुध सर्व प्राणी परस्पर करते हैं।

३. जिनवाणी में व्यवहार का उपदेश शुद्धनय का हस्तावलंब (सहायक) जानकर बहुत किया है।

४. पर, इसका फल संसार ही है।

व्यवहार करते-करते निश्चय होगा – ऐसा व्यवहार का पक्ष तो जीवों की अनादि से ही है। एक दूसरे को इसका उपदेश भी करते हैं कि व्रत, तप, दान, भक्ति, पूजा इत्यादि करो – इससे परंपरा मोक्ष होगा, तथा शास्त्रों में भी शुद्ध-नय का हस्तावलम्ब जानकर व्यवहार का उपदेश बहुत किया है, पर भाई! इसका फल संसार ही है। तथा वहाँ कहा है –

१. शुद्ध-नय का पक्ष तो कभी आया नहीं।

२. और इसका उपदेश भी विरल है, कहीं-कहीं आया है।

३. इसलिये उपकारी श्रीगुरु ने शुद्ध-नय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर इसका उपदेश प्रधानता से दिया है कि –

शुद्ध-नय भूतार्थ है, सत्यार्थ है, इसका आश्रय करने से सम्यग्दृष्टि हो सकते हैं, इसे जाने बिना जहाँ तक जीव व्यवहार में मग्न है, वहाँ तक आत्मा का ज्ञान-श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो सकता। देखो, गृहस्थाश्रम में रहने-वाले पं. श्री जयचन्दजी ने ऐसा भावार्थ लिखा है।

यहाँ जयसेनाचार्यदेव कहते हैं – **सिद्धांत में ऐसा कहा है कि शुद्धपारिणामिक (भाव) निष्क्रिय है। निष्क्रिय का क्या अर्थ है ? वह कहते हैं –**

"(शुद्धपारिणामिकभाव) बंध की कारणभूत जो क्रिया रागादि परिणति उसरूप नहीं होता और मोक्ष के कारणभूत जो क्रिया शुद्धभावना -- परिणति, उसरूप भी नहीं होता। इसलिये ऐसा जानने में आता है कि शुद्ध पारिणामिकभाव ध्येयरूप है, ध्यानरूप नहीं।"

निष्क्रिय अर्थात् क्या ? जड़की और पर की क्रिया रहित चीज, क्या इसका नाम निष्क्रिय है ? आत्मा शरीर आदि पर की क्रिया नहीं कर सकता इसलिये वह निष्क्रिय है ? नहीं, ऐसा नहीं है। भाई ! तू जरा धैर्य से सुन। बंध के कारणभूत जो क्रिया अर्थात् – रागादि मलिन भाव, उसरूप शुद्ध पारिणामिक नहीं है, इसलिए उसे निष्क्रिय कहते हैं। क्या कहा ? पुण्य-पाप का भाव बंध के कारणरूप क्रिया है और उसका शुद्ध पारिणामिक में अभाव है, इसलिये उसे निष्क्रिय कहा है। वह क्रिया पर्याय में तो है पर शुद्ध द्रव्य वस्तु में उसका अभाव है, इसलिये शुद्ध द्रव्य वस्तु निष्क्रिय है। भाई ! यह जैनतत्व बहुत सूक्ष्म है।

लोक में तो धर्म के नाम पर अन्य मिथ्या मान्यताएँ चलती हैं। चलती हैं तो चलें, पर इनसे संसार में रखड़ने का अन्त नहीं आयेगा। यहाँ तो सच्ची बात है कि निश्चय-सम्यग्दर्शन का ध्येय जो त्रिकाली शुद्ध द्रव्य, वह रागरूप क्रिया की परिणति से भिन्न है अर्थात् राग की किसी क्रिया से वह प्राप्त हो – ऐसा नहीं है। जैनकुल में जन्म लेनेवाले को भी इस बात की खबर नहीं है। एकबार एक त्यागीजी प्रवचन सुनने आये। वे कहते थे कि ऐसी बात की हमें खबर नहीं थी, हमारी सब क्रियायें व्यर्थ गईं।

देखो, त्रिकाली शुद्ध-पारिणामिकभाव निष्क्रिय है अर्थात् क्या – इसकी बात चलती है। शुद्ध-पारिणामिकभाव, जैसे बंध के कारणभूत (रागादि परिणति) क्रियारूप नहीं होता, वैसे मोक्ष के कारणभूत (निर्मल, निर्विकार शुद्धभावना परिणति) क्रियारूप भी नहीं होता, इसलिये वह निष्क्रिय है। अहाहा! सम्यग्दर्शन का विषय जो त्रिकाली शुद्ध द्रव्य है वह सम्यग्दर्शन की क्रियारूप नहीं होता। भाई! यह तो त्रिलोक-नाथ जैन वीतरागी परमेश्वर की दिव्यध्वनि में आया हुआ अमृत है। अहो! समयसार, प्रवचनसार इत्यादि द्वारा आचार्य देव ने अमृत बरषाया है।

बोलना, चलना, खाना, पीना, लिखना इत्यादि जड़ की क्रियायें तो भगवान आत्मा में हैं ही नहीं; यहाँ तो कहते हैं -- इसकी पर्याय में जो रागादि विकार की क्रिया होती है उस क्रियारूप भी शुद्धद्रव्य नहीं होता। अहा! जो एक ज्ञायकभाव है वह तो वही है, वह कभी प्रमत्त – अप्रमत्तरूप नहीं हुआ। इसलिये त्रिकाली शुद्ध-द्रव्य अक्रिय है। अहो! कोई अलौकिक शैली से वीतरागी संतों ने शुद्ध द्रव्यस्वभाव का रहस्य खोला है। बापू! ये तो अन्तर के निधान खोले हैं।

यह तो पहले कहा जा चुका है कि शुद्ध-उपादानभूत शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय से जीव कर्तृत्व – भोक्तृत्व से तथा बंध-मोक्ष के कारण और परिणाम से शून्य है। बंध और बंध का कारण, मोक्ष और मोक्ष का कारण – ये चारों ही चीजें त्रिकाली शुद्ध-द्रव्य में नहीं हैं।

दया, दान, व्रत, तप के परिणाम बंध के कारणरूप क्रिया हैं, ये आत्मद्रव्य में नहीं हैं, और शुद्धभावना परिणति जो निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप है वह मोक्ष की कारण-रूप क्रिया है। वह भी आत्मद्रव्य में नहीं है इसलिये ऐसा जानने में आता है कि शुद्ध-पारिणामिकभाव ध्येयरूप हैं, ध्यानरूप नहीं हैं।

शुद्ध-पारिणामिकभावरूप त्रिकाली शुद्ध-द्रव्य नित्यानंद चिदानन्द प्रभु ध्यान का ध्येय है, ध्यान नहीं। जिसमें निराकुल आनन्द का स्वाद आये ऐसा निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होने में त्रिकाली शुद्ध चिन्मात्र वस्तु ध्येय है, ध्यानरूप नहीं, क्योंकि त्रिकाली वस्तु अक्रिय है। अब ध्येय क्या और ध्यान क्या ? इसकी तो खबर नहीं और तैयार हो गये आसन लगाकर ध्यान करने, परन्तु इससे जरा भी ध्यान नहीं होने-वाला, सुन तो जरा ये तो सब मिथ्या क्रियाएँ हैं।

यहाँ कहते हैं – शुद्ध-पारिणामिकभावरूप चिन्मूर्ति प्रभु आत्मा ध्यान का ध्येय है, वह ध्यानरूप नहीं। पर्याय को कथंचित् द्रव्य से भिन्न कहा है न ? यही बात यहाँ सिद्ध की है।

त्रिकाली वस्तु शुद्ध चैतन्य का महा दरिया है। "शुद्ध-चेतनासिंधु हमारो रूप है" – ऐसा आता है न ? अनंत-अनंत-अनंत गुणों का एकरूप दल प्रभु आत्मा है। वह ध्येयरूप है, ध्यानरूप नहीं। सम्यग्दर्शन पर्याय ध्यानरूप है और त्रिकाली

ध्रुव द्रव्य इसका ध्येय है। ध्यान तो ध्येय में एकाग्र हुई पर्याय है, और ध्येय त्रिकाल ध्रुवस्वभाव है। ध्यान की पर्याय की ध्येय को ध्याती है तो भी जो ध्येय है, वह ध्यानरूप नहीं होता। अहो! यह तो अलौकिक बात है।

भगवान्! निज ध्येय को भूलकर अपनी नजर को तूने राग में रोक रखा है, इसलिये ध्येयरूप निज ज्ञानानंद का दरिया तुझे नहीं दिखाता। तूने नजर को वर्तमान पर्याय की रूचि में रोक दिया है, इसलिए अनंत गुणनिधि शुद्धचेतना सिंधु भगवान आत्मा तुझे भासित नहीं होता। अरे भाई! ध्यानरूप पर्याय रागरहित निर्मल भावरूप है और इसका ध्येय परमस्वभावभावरूप त्रिकाली शुद्ध-आत्मद्रव्य है। इसलिये रुचि को पलट दे और ध्रुव स्वभाव में उपयोग को स्थिर करके उसका ध्यान कर। उपयोग को ध्येय में एकाग्र करके ध्याने पर जो ध्यान प्रगट होगा उसमें अतीन्द्रिय आनन्द की धारा उल्हसित होगी।

वास्तव में तो पर तरफ ढली हुई ज्ञान को पर्याय में भी ज्ञायक ही जानने में आ रहा है। यह बात आचार्यदेव ने १७-१८ वीं गाथा में कही है। ज्ञान की पर्याय स्वभाव का स्व-पर प्रकाश है, इसलिये वर्तमान ज्ञानपर्याय में त्रिकाल परम-पारिणामिकभाव में स्थित वस्तु जानने में आती है। अज्ञानी के ज्ञान में भी वह त्रिकाली द्रव्य जानने में आता है, पर उसकी नजर इसके ऊपर नहीं है। दृष्टि का फेर है भाई! ध्रुव की दृष्टि करने के बदले वह अपनी नजर पर्याय पर, राग पर, निमित्त पर और बाहर के पदार्थों पर रखता है, इसलिये उसे अन्दर का चैतन्यनिधान नहीं दिखता।

अरे! पैसे-वैसे में बिल्कुल सुख नहीं है। बापू! ये तो सब धूल के ढेर हैं। और इसका ध्यान करके परिणमित होना

अकेला दुःख का ढेर है। पंचमहाव्रत का विकल्प भी राग है, दुःख है, बन्ध का कारण है। तू इसे भ्रम से संवर मानकर सेवन करता है, पर आचार्यदेव ने इसे "तत्त्वार्थसूत्र" में आस्रव में गिना है। भाई ! आस्रव से तुझे लाभ है – ऐसी दृष्टि स्वरूप के श्रद्धान-ज्ञान होने में बाधक है।

यहाँ कहते हैं – "शुद्ध-पारिणामिकभाव ध्येयरूप है, ध्येयरूप नहीं। किसलिये ? कारण कि ध्यान विनश्वर है। और शुद्ध-पारिणामिकभाव तो अविनाशी है।"

देखा ? जो ध्यान है वह पर्याय है, औपशमिकादिभाव-रूप है और वह पलट जाती है इसलिये ध्येयरूप नहीं है। ध्येयरूप तो एक शुद्ध-पारिणामिकभाव है, क्योंकि वह अविनश्वर है, नित्य है, शाश्वत है, ध्रुव है, एकरूप है, वह ध्यान-रूप कैसे हो सकता है ? भाई ! यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप जो मोक्षमार्ग की पर्याय है वह नाशवान है, क्योंकि मोक्षदशा प्रगट होने पर मोक्षमार्ग की पर्याय का नाश हो जाता है – व्यय हो जाता है, इसलिये वह ध्येयरूप नहीं है। और त्रिकाली शुद्ध द्रव्य नित्य अविनाशी होने से ध्येयरूप है, परन्तु ध्यानरूप नहीं है। यह भाषा तो सादी है, पर भाव तो जो है, वही है। लोग कहते हैं कि सरल करो। पर सरल क्या करें ? यह सरल ही है। तू व्रत, तप, उपवास आदि के विकल्प को सरल मानता है, पर बापू ! यह तो मार्ग ही नहीं है, ये तो सब राग मंदता की क्रियायें हैं और रखड़ने का मार्ग है।

ध्यान पर्याय विनश्वर है। शुक्लध्यान की पर्याय भी विनश्वर है, इसलिये वह ध्येयरूप नहीं, ध्येय से भिन्न है। श्री योगीन्द्रदेव ने भी परमात्मप्रकाश की अड़सठवीं गाथा में कहा है –

णवि उपज्जइ णवि मरई बन्धु ण मोक्खु कोरेइ ।
जिउ परमत्थे जोइया जिणवर एउ भणेइ ।।

हे योगी, परमार्थ से जीव उपजता भी नहीं, मरता भी नहीं और बन्ध-मोक्ष भी नहीं करता – ऐसा श्री जिनवर कहते हैं। अहाहा ! त्रिकाली वस्तु रूप शुद्ध-द्रव्य रूप परमार्थ से नरकगति, मनुष्यगति, सिद्धगति इत्यादि पर्यायों में उपजता नहीं तथा मरता भी नहीं ।

नियमसार की गाथा ३८ में कहा है कि त्रिकाली ध्रुव एक ज्ञायकभाव मात्र शुद्ध-पारिणामिकभावमात्र वस्तु है, वही वास्तव में आत्मा है । पर्यायरूप आत्मा तो व्यवहार-आत्मा है, त्रिकाली की अपेक्षा यह अभूतार्थ – असत्यार्थ है । अहो ! यह तो अलौकिक बात है ।

भाई ! गणधर भगवान के रचे हुए शास्त्र कैसे होंगे ? केवली परमात्मा के श्रीमुख से जो ओमध्वनि निकलती है, जिसे सुनकर चार ज्ञान के धारक श्री गणधरदेव अन्तर्मुहुर्त में बारह अंग और चौदह पूर्व की रचना करते हैं, वह चीज कैसी होगी ? उसमें कोई लौकिक वार्ता नहीं होती । उसमें कहते हैं – नित्य ध्रुव एक चिन्मात्र वस्तु को हम आत्मा कहते हैं । ऐसा आत्मा एक समय की पर्याय में नहीं आता । त्रिकाली ध्रुव अन्तःतत्त्व आत्मा मोक्षमार्ग या मोक्ष की समय की पर्याय रूप से उपजता और विनशता नहीं है । उस रूप से पर्याय उपजती है, पर शुद्ध जीव नहीं उपजता ।

ऐसी बात जिसने कभी सुनी न हो उसे लगता है कि क्या जैन का मार्ग ऐसा होगा ? तथा किसी को यह सुनकर वेदान्त जैसा लगता है, पर वेदान्तों में तो ये बात ही नहीं है । आत्मा को एकान्त से नित्य एक सर्वव्यापक मानना तो गृहीत मिथ्या-दर्शन है । भाई ! वेदान्त मत वाले पर्याय को कहाँ मानते हैं ?

अनन्त आत्माओं को कहाँ मानते हैं ? अनन्त परमाणुओं को कहाँ मानते हैं ? अनन्त गुणों को कहाँ मानते हैं ? उनके मन में मूल वस्तुस्वरूप की बात ही कहाँ है ? तुझे वेदान्त जैसा लगता है, पर बापू ! वेदान्त दर्शन में और जैन दर्शन में बहुत बड़ा (जमीन आसमान जैसा) अन्तर है।

परमार्थ से जीव उपजता नहीं, मरता भी नहीं; यह उपजना-विनशना जिसमें होता है वह पर्याय है। अहा ! प्रत्येक द्रव्य की पर्याय प्रगट होने का जन्मक्षण है। प्रत्येक पर्याय की उत्पत्ति का स्वकाल है और उसी काल में वह उत्पन्न होती है। यह बात प्रवचनसार में आती है। वहाँ पहले अधिकार में ज्ञान तत्त्व का निरूपण है, दूसरा ज्ञेय अधिकार है। उसमें छहों द्रव्यों के स्वरूप का वर्णन है। जिस समय द्रव्य में जो पर्याय होना हो उस समय वही पर्याय प्रगट होती है, वह पर्याय आगे-पीछे नहीं होती तथा वह किसी अन्य के कारण भी नहीं होती। प्रत्येक पर्याय अपने क्रमबद्ध अवसर में प्रगट होती है। वहाँ ९९ वीं गाथा में कहा है जिस समय में जो पर्याय होने वाली हो वह अपने स्व अवसर में प्रगट होती है, आगे-पीछे प्रगट नहीं होती। यह जैनदर्शन की मूल बात है। द्रव्य में समस्त पर्यायें क्रमबद्ध हो अपने-अपने अवसर में प्रगट होती हैं।

प्रश्न – पर्यायें क्रमबद्ध ही होती हैं तो फिर पुरुषार्थ कहाँ रहा ?

उत्तर – भाई ! तू जरा धैर्यधारण करके सुन। जीव जब स्वभाव सन्मुख होकर स्वानुभव प्रगट करता है, तभी उसे क्रमबद्धपर्यायों का यथार्थ निर्णय होता है और यही पुरुषार्थ है। अज्ञानी का पुरुषार्थ है ही कहाँ ? क्रमबद्ध का निर्णय कहो कि स्वभाव-सन्मुखता का पुरुषार्थ कहो – एक ही बात है। क्रमबद्ध के निर्णय वाले को पुरुषार्थ का अभाव कभी नहीं होता और

जिसे पुरुषार्थ का अभाव है उसे क्रमबद्ध का यथार्थ निर्णय कभी नहीं होता। यहाँ कहते हैं कि जिस पर्याय में केवलज्ञान हुआ उस पर्याय में भगवान ध्रुवस्वभाव नहीं आता।

परमार्थ से जीव बन्ध-मोक्ष को भी नहीं करता। ऐसा कौन कहता है? तो कहते हैं – "जिणवर एउ भणेइ" भगवान जिनेश्वरदेव, जिन्हें एक सैकेण्ड के असंख्यातवें भाग में तीन-काल, तीनलोक दिखाई देता है, वे सर्वज्ञ परमात्मा ऐसा कहते हैं।

देखो, भगवान ने एक समय में तीनकाल-तीनलोक देखा, ऐसा कहना भी व्यवहार है। केवलज्ञान की पर्याय में तीनकाल, तीनलोक जानने में आता है – ऐसा कहना व्यवहार है, क्योंकि ज्ञान की पर्याय को जानते ही उसमें लोकालोक जानने में आ जाता है, उसे देखने नहीं जाना पड़ता, तथा केवलज्ञान उसमें (लोकालोक में) तन्मय होकर नहीं जानता।

यहाँ कहते हैं – अनन्त सर्वज्ञ परमात्मा फरमाते हैं कि त्रिकाली ध्रुव नित्यानन्द परमात्मद्रव्य बन्ध-मोक्ष के परिणाम और बन्ध-मोक्ष के कारण को नहीं करता, क्योंकि वह तो त्रिकाल सदृश एकरूप भाव है, जब कि बन्ध-मोक्ष का परिणाम विसदृश है, भाव-अभावरूप है। उत्पाद भावरूप है और व्यय अभावरूप है,परन्तु वस्तु में ध्रुव भाव-अभाव कहाँ है? नहीं है। इसलिये बन्ध और मोक्ष के कारणरूप रागादि परिणाम और मोक्ष तथा मोक्ष के कारणरूप शुद्धभावना परिणति (निर्मल-रत्नत्रय) को शुद्धात्मद्रव्य नहीं करता।

किसी को ऐसा लगे कि यदि आत्मा बन्ध-मोक्ष का भाव नहीं करता तो फिर यह दीक्षा कैसी? यह आनन्द की दशा का परिणमन कैसे?

सुन, भाई ! अनंत तीर्थङ्कर देवों ने यह कहा है कि परमार्थ रूप निश्चय जीव दीक्षा के परिणामरूप या आनन्द की दशारूप नहीं उपजता तथा – उस दशा का व्यय होने पर वह मरता भी नहीं है। मनुष्यरूप से उत्पाद और देवगति का व्यय – ये दोनों उत्पाद-व्ययरूप अवस्थायें हैं जरूर, पर उस-उस अवस्था के काल में ध्रुव आत्मद्रव्य उत्पाद-व्ययरूप नहीं होता, वह तो त्रिकाल एकरूप शुद्ध ज्ञायकभावरूप से ही रहता है। ऐसा ही द्रव्य – पर्यायरूप वस्तुस्वरूप है।

"जिणवर एउ भणेइ" भगवान जिनेश्वर देव दिव्य-ध्वनि द्वारा ऐसा कहते हैं कि बन्ध – मोक्ष के परिणाम को शुद्धजीव नहीं करता, अर्थात् शुद्धजीव नित्यानन्द चिदनन्द प्रभु बन्ध – मोक्ष की पर्यायरूप नहीं होता। अहो ! ऐसा अलौकिक शुद्ध जीवतत्व सम्यग्दर्शन का विषय है। क्या कहा ? "सम्यग्दर्शन का विषय नहीं, परन्तु त्रिकाली शुद्ध जीववस्तु सम्यग्दर्शन का विषय है और इसलिये उसे मुख्य करके समयसार की ११वीं गाथा में भूतार्थ कहा है।

"और विशेष कहते हैं कि विवक्षित एकदेश शुद्धनयाश्रित यह भावना निर्विकार स्वसंवेदनलक्षण क्षायोपशमिकज्ञानरूप होने से यद्यपि एकदेश व्यक्तिरूप है तो भी ध्याता पुरुष ऐसा ध्याता है कि जो सकल – निवारण अखण्ड एक – प्रत्यक्षप्रति-भासमय अविनश्वर – शुद्ध-पारिणामिक परभावलक्षण निज परमात्मद्रव्य है वही मैं हूँ, अपितु "खण्डज्ञानरूप मैं नहीं हूँ।

विवक्षित अर्थात् कहने में आनेवाली आंशिक शुद्धिरूप परिणति एकदेश शुद्धनयाश्रित है। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भावना एकदेश शुद्ध है, आंशिक शुद्ध है, पूर्ण शुद्ध नहीं। पूर्ण शुद्धि तो भगवान केवली को होती है। पं. श्री टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी में आता है – "इसीप्रकार

चौथे गुणस्थानवर्ती आत्मा को ज्ञानादिगुण एकदेश प्रगट हुए हैं इसकी तथा तेरहवें गुणस्थानवर्ती आत्मा को ज्ञानादिगुण सर्वदेश प्रगट हुए हैं उनकी एक ही जाति है।" ऐसा समझना कि साधक को जो निर्मल रत्नत्रयरूप भावना प्रगट हुई है वह एकदेश शुद्ध है, आंशिक शुद्ध है।

आकाश के प्रदेश अनंत हैं, इनसे अनंत-गुणे एक जीव के गुण हैं। सम्यग्दर्शन होनेपर प्रत्येक गुण का जो आंशिक शुद्ध परिणमन होता है, उसे यहाँ एकदेश शुद्धनयाश्रित भावना कहा है। यहाँ प्रगट परिणति को शुद्धनय कहा है। समयसार की चौदहवीं गाथा में शुद्धनय, अनुभूति और आत्मा को एकार्थ-वाची कहा है। त्रिकाली परमात्मस्वरूप भगवान आत्मा को ध्येय बनाकर परिणमित होनेपर प्रगट होनेवाली निर्मल दशा एकदेश शुद्धनयाश्रित भावना है। द्रव्यसंग्रह में मोक्षमार्ग की प्रगट पर्याय के ६५ नाम दिये हैं। यहाँ उसके दो नाम देकर कहा है कि वह अध्यात्मभाषा से "शुद्धात्माभिमुख परिणाम" "शुद्धोपयोग" इत्यादि पर्यायसंज्ञा पाता है। द्रव्यसंग्रह में कहे गए ६५ नामों में से कुछ इसप्रकार कहे गए हैं –

वह भावना परम ब्रह्मस्वरूप है, परम विष्णुस्वरूप है, परम शिवस्वरूप है, परम बुद्धस्वरूप है, परम जिनस्वरूप है, वह परम निभ आत्मोपलब्धिरूप हैं, वह निरंजनस्वरूप है, वह निर्मलस्वरूप हैं, वह स्वसंवेदनज्ञान है, वह परमतत्वज्ञान है, वह परमावस्थारूप परमात्मा का स्पर्शन है, वह परमावस्थारूप है,वह परमात्मज्ञान है,वही ध्यान करने योग्य शुद्ध – पारिणामिक भावरूप है, वह ध्यान भावनारूप है, वही शुद्ध चारित्र है, वही अन्तरंगतत्व है, वही परमात्मतत्व है, वही शुद्धात्मद्रव्य है, वही परमज्योति है।

इसीप्रकार अन्य नाम भी हैं। मोक्षमार्ग एकदेश व्यक्त पर्याय है। यह आंशिक शुद्धिरूप परिणति निर्विकार स्वसंवेदन लक्षण क्षायोपशमिक ज्ञानरूप होने से एकदेश व्यक्तिरूप है।

एक समय की पर्यायरहित त्रिकाली द्रव्यस्वभाव – ध्रुवभाव को यहाँ निश्चय जीव कहा है, वह जीव (शुद्धजीव) सिद्धपर्यायरूप उत्पन्न नहीं होता और पूर्व की मनुष्यगति का व्यय होने पर भी वह (शुद्धजीव) व्ययरूप नहीं होता, अहा ! ऐसा जो नहीं उपजने और नहीं मरनेवाला वह शुद्ध पारिणामिक भावरूप शुद्धजीव, सम्यग्दर्शन का विषय है – यह बात यहाँ सिद्ध करना हैं, इसलिए ऐसी भाषा में कहा – "**शुद्धपारिणामिक भाव ध्येयरूप है, ध्यानरूप नहीं। क्योंकि ध्यान विनश्वर है और शुद्ध पारिणामिकभाव अविनश्वर है।**"

प्रश्न – वह शुद्ध पारिणामिकभाव कैसे प्राप्त हो ?

उत्तर – सम्यग्दर्शन के साथ प्रगट होने वाले सहज वीतरागी आनन्द की अनुभूतिवाले स्वसंवेदन ज्ञान से वह प्राप्त होता है। ध्रुव से ध्रुव जानने में नहीं आता, क्योंकि ध्रुव में जाननेरूप क्रिया नहीं है, निर्विकार स्वसंवेदन लक्षण ज्ञान से ध्रुव जानने में आता है।

वस्तु का त्रिकाली स्वरूप ध्रुवभावरूप है। वह ध्रुव-भावरूप वस्तु पर्याय में प्राप्त होती है। कैसी है वह पर्याय ? तो कहते हैं – एकदेश प्रगट शुद्धनय की भावनारूप है। अहाहा ! ऐसी भाषा और ऐसा भाव। इसे कभी सुना नहीं। एकदेश शुद्ध नयाश्रित यह भावना अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति लक्षणवाले निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानरूप है। यह निर्विकार स्वसंवेदन लक्षण ज्ञान क्षायोपशमिकभाव है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्ष का मार्ग तीनभावरूप है, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक। इन तीनों में स्वसंवेदन

लक्षण ज्ञान क्षयोपशमभावरूप है। शुद्ध-आत्मतत्त्व की प्राप्ति क्षयोपशम ज्ञान में होती है। मोक्षमार्ग की पर्याय को तीन भावरूप कहा है, परन्तु वह ज्ञान क्षयोपशमभावरूप है, उपशम या क्षायिक भावरूप नहीं। ये तो सर्वज्ञ वीतरागी भगवान के पेट की बातें हैं भाई !

यह भावना निर्विकार स्वसंवेदन लक्षण क्षायोपशमिक ज्ञानरूप होने से एकदेश व्यक्तिरूप है। देखो, तीनों भावों में यह निर्विकार स्वसंवेदन लक्षण ज्ञान क्षयोपशमभाव है।

सम्यग्दर्शन होने पर जो ज्ञान प्रगट हुआ वह ज्ञान क्षयोपशमभावरूप है। भले सम्यग्दर्शन उपशम हो, क्षयोपशम हो या क्षायिक हो, परन्तु उसके साथ होने वाला ज्ञान तो क्षायोपशमिक ज्ञान है। तथा कैसा है वह ज्ञान ? निर्विकार आनन्द का स्वाद जिसके अनुभव में आता है वह ऐसा स्वसंवेदन लक्षण ज्ञान है। अहा ! वह ज्ञान स्व-स्वरूप के जानने अनुभवने में प्रवृत्त है।

भावना सम्बन्धी यह वर्णन बन्ध-अधिकार तथा सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार के अन्त में श्री जयसेनाचार्यदेव की टीका में आता है, तथा परमात्मप्रकाश में भी आता है। यही बात यहाँ कही है। मिथ्यातत्त्व, अज्ञान और रागद्वेष से होने वाले बन्ध के विनाश के लिए विशेष भावना है। अहा ! मैं तो एक त्रिकाली ध्रुव परम स्वभावभावमय शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूपी परमात्मद्रव्य ही हूँ। दया, दान का विकल्प भी मैं नहीं, गुणभेदका विकल्प भी मैं नहीं, और एक समय की पर्याय भी मैं नहीं – इसप्रकार यह भावना ध्रुव में एकरूप रहकर ध्रुव का निर्णय करती है। इसका नाम जैनदर्शन है और यह महा अद्भुत अलोकिक चीज है।

जिसे स्वद्रव्य के आश्रय से अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है ऐसा धर्मी जीव इसप्रकार भाता है कि मैं तो सहज शुद्ध सच्चिदानन्दमय परमानन्दमय परमात्मा ही हूँ और जगत के सर्व जीवों का अन्तरंग में ऐसा ही स्वरूप है। परमात्मप्रकाश के अन्त में आचार्यदेव कहते हैं – इस परमात्मप्रकाश वृत्ति का व्याख्यान जानकर भव्य जीवों को क्या करना ? भव्य जीवों को ऐसा विचार करना चाहिए कि "शुद्ध निश्चय से मैं एक (केवल) तीन लोक में, तीन काल में मन-वचन-काय से और कृत-कारित-अनुमोदना से उदासीन हूँ, निज निरंजन शुद्ध आत्मा के सम्यक्श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्अनुष्ठानरूप निश्चय-रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न वीतराग सहजानन्द-सुखानुभूतिमात्र लक्षणवाले स्वसंवेदनज्ञान से स्वसंवेद्य गम्य प्राप्य ऐसा परिपूर्ण हूँ, राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, पांच इन्द्रियो का विषय-व्यापार, मन-वचन-काय का व्यापार, भावकर्म, द्रव्यकम, नोकर्म, ख्याति, पूजा, लाभ, देखे, सुने और अनुभवे हुए भोगों की आकांक्षारूप निदान, माया, मिथ्यात्व ये तीन शल्य आदि सर्व विभाव परिणामों से रहित-शून्य हूँ। सभी जीव ऐसे ही हैं – ऐसी निरन्तर भावना करना। देखो, यह धर्मी की एकरसरूप (समरस) भावना।

सम्वत् १९६४ में एकबार हम पालेज से बड़ोदरा माल लेने गये। उस समय १८ वर्ष की उमर थी। वहाँ रात में नाटक देखने गये। उस समय के नाटक भी वैराग्यपूर्ण थे, अब तो नाटक सिनेमा में नैतिक जीवन का खातमा कर दिया है। वहाँ "सती अनुसूइया" नाटक हो रहा था, हमने नाटक की पुस्तक भी खरीदी थी। इस नाटक में ऐसा दृष्य आता है कि जब अनुसूइया स्वर्ग में जारही थी, तब देव ने उसे रोक दिया और कहा – "अपुत्रस्य गतिर्नास्ति" अर्थात् जिसका पुत्र न हो

उसे स्वर्ग गति नहीं मिलती। (यह तो अन्य मत की बात है) इसलिए नीचे जा और जो मिले उसे वर। उस बाई ने नीचे आकर एक अन्धे ब्राह्मण को वर लिया। उसके एक बालक हुआ। बालक को पालने में झुलाती हुई वह बाई कहती थी – "बेटा! शुद्धोऽसि, बुद्धोऽसि, निर्विकल्पोऽसि, उदासीनोऽसि।" अर्थात् तू शुद्ध है, बुद्ध है, निर्विकल्प है, उदासीन है। यह बात तो नाटक में आई थी। यहाँ शुद्ध भावना का अधिकार बांचते समय वर्षों पहले देखे उस नाटक का भाव याद आ गया।

अहा! सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा ऐसा भाता है कि मैं निर्विकल्प हूँ, शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, परम-उदासीन हूँ, और जगत के सब जीव भी स्वभाव से ऐसे ही हैं। सूक्ष्म निगोद के जो अनन्त जीव हैं, उन सबका स्वरूप भी ऐसा शुद्ध सच्चिदानन्द-मय है। कन्दमूल के एक अंश में असंख्य जीव हैं। इन सब जीवों का द्रव्य शुद्ध चिद्घन आनन्दघन ही है – ऐसा भाता है। जगत के सर्व जीवों को धर्मात्मा द्रव्यदृष्टि से ऐसा ही देखता है।

अहा! मैं ऐसा शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यघन, ज्ञानमूर्ति प्रभु आत्मा हूँ – ऐसा किसमें जाना जाता है? अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति जिसका लक्षण है। ऐसे स्वसंवेदन ज्ञान में ऐसा जाना जाता है। इसके सिवा वह शुद्ध-बुद्ध आत्मा भगवान से नहीं जाना जाता, भगवान की वाणी से भी नहीं जाना जाता और व्यवहार-रत्नत्रय के विकल्प से भी नहीं जाना जाता। वह तो निर्विकार स्वसंवेदन लक्षण क्षयोपशम ज्ञान से जाना जाता है। आत्मा स्वयं स्वसंवेद्य है न? अर्थात् स्वानुभव की की दशा में जो ज्ञान स्वाभिमुख हुआ है उससे ही वह जानने में आता है, अन्य किसी प्रकार से वह प्राप्त नहीं होता। लोगों को यह बात कठिन लगती है, पर क्या करें? वस्तु का स्वरूप तो जैसा है वैसा ही है, इसे जाने बिना बाहर के व्रतादि के

व्यवहार से आत्मा प्राप्त हो जायेगा – ऐसे भ्रम में काल चला गया तो यह जीव चारगतिरूप संसार में डूब जायेगा ।

व्रतादि का व्यवहार तो राग है बापू ! भावपाहुड़ की तेरासी गाथा में आचार्य भगवान कहते हैं कि प्रजा और व्रत के भाव पुण्य हैं, धर्म नहीं, एक वीतराग परिणाम या सम्यग्दर्शन-ज्ञान का परिणाम ही जैनधर्म है और वही मुक्तिमार्ग है ।

अहा ! मैं अपनी केवलज्ञान आदि अनंत शक्तियों से भरा हुआ पूर्ण परमात्मा हूँ, निश्चय से मेरा आत्मा अनंतदर्शन, अनंत आनन्द, अनन्त वीर्य, अनन्त स्वच्छता अनन्त, प्रकाश, अनन्त प्रभुता आदि अनन्त शक्तियों से भरा हुआ है । धर्म की पहली सीढ़ीवाला सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्मा को इसप्रकार भाता है, ध्याता है । जगत के सभी आत्मा शक्तिरूप से भगवान हैं, रागद्वेषादि विभाव से रहित-शून्य हैं, भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म से भिन्न हैं-ऐसा वह जानता है । अहा ! जिस भाव से तीर्थङ्कर नामकर्म बन्धे वह भाव भी विभाव अर्थात् विपरीत भाव है और इससे भगवान आत्मा शून्य है – ऐसा समकिती जानता है । अहो ! जिसमें जगत के सर्वजीव समानपने शक्ति से परिपूर्ण भासते हैं, ऐसे समकिती की भावना कोई अचिंत्य और अलौकिक है । अहा ! अनन्त शक्ति से भरा पूर्ण चैतन्य दरिया जिसमें भाषित हुआ, वह भावना अपूर्व है । पास में पांच-दस करोड़ का संयोग हो तो सेठ लोग मानते हैं कि हम भी कुछ हैं, पर बापू । ये तो सब धूल की (पुण्य की) धूल है ।

प्रश्न – परन्तु इस धूल के बिना काम नहीं चलता न ?

समाधान – तुझे खबर नहीं भगवान ! इस धूल के बिना ही तेरा काम अनादि से चल रहा है, क्योंकि तेरे द्रव्य-गुण पर्याय में वह कहाँ है ? भाई ! आत्मा में परद्रव्य का तीनोंकाल

अभाव है, और स्वभाव का सदा ही सद्भाव है। भाई ! तेरे स्वभाव में परद्रव्य तो क्या, एक समय की पर्याय भी प्रवेश नहीं पापती-ऐसा तेरा द्रव्य है।

भगवान आत्मा निर्विकार स्वसंवेदन लक्षण क्षायोपशमिक ज्ञान में जाना जाता है। यह ज्ञान भावश्रुतज्ञान होने से क्षयोपशमभावरूप है, सम्यक्त्व भले क्षायिक हो, पर ज्ञान तो क्षायोपशमिकभावरूप ही है।

देखो, श्रेणिक राजा को क्षायिक सम्यक्त्व था, स्वानुभव मण्डित भावश्रुत ज्ञान था। तीर्थङ्कर प्रकृति बाँधी है, पूर्व में नरक की आयु बन्ध गई थी इसलिए अभी पहले नरक के संयोग में गये हैं। वहाँ भी क्षायिक सम्यक्त्व वर्तता है। वहाँ क्षण-क्षण तीर्थङ्कर प्रकृति बन्धती है। अहा ! नरक के ऐसे पीड़ाकारी संयोग में भी वह अपने आत्मा को शुद्ध-बुद्ध चिदानन्दस्वरूप परमात्मस्वरूप अनुभवता है। अज्ञानी को इसकी खबर कैसे पड़े ? यह करो, वह करो – एकान्त से ऐसे क्रियाकाण्ड में ही वह रुक गया है। उसे भगवान केवली की आज्ञा की खबर ही नहीं है। बापू ! यह तो जगत से अत्यन्त निराली बात है, जगत के साथ इसका मेल बैठे-ऐसा नहीं है।

समकिती को जो भावश्रुतज्ञान है वह क्षयोपशमरूप है और एकदेश व्यक्तिरूप है, क्षायिक की तरह पूर्ण व्यक्तिरूप नहीं है, सर्वदेश व्यक्तिरूप क्षायिकज्ञान तो केवली परमात्मा को होता है। सम्यग्दृष्टि को तथा भावलिंगी मुनिवर को जो ज्ञान अन्दर प्रगट है वह क्षायोपशमिक है और इसलिये वह एकदेश व्यक्तिरूप है।

अहाहा ! भगवान ! तू जिन है, जिनवर है, जिन सो जिनवर, और जिनवर सो जिन। ऐसा जिनस्वरूप भगवान आत्मा जिसमें जाना जाये वह भावश्रुतज्ञान क्षायोपशमिक है

और एकदेश प्रगटरूप है। आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं। आत्मानुभव होने पर वे सब शक्तियाँ पर्याय में अंशरूप प्रगट होती हैं। सम्यग्दर्शन होने पर जो क्षयोपशम ज्ञान प्रगट होता है वह अंशरूप व्यक्त होता है, पूर्ण व्यक्त नहीं। सर्वज्ञ परमेश्वर को जो अनन्त शक्तियाँ हैं वे सब पूर्ण व्यक्तिरूप हैं, परन्तु साधक को तो वे शक्तियाँ मोक्षमार्ग के काल में आंशिक व्यक्तिरूप हैं, ज्ञान भी एकदेश व्यक्तिरूप है।

अभी तो जैनकुल में जन्म लेनेवालों को भी खबर नहीं है कि जैन परमेश्वर कौन है? और उनके ज्ञान की कैसी अलौकिकता है? बापू! यह बात समझे बिना ही तू अनंतकाल से रखड़-रखड़कर मर रहा है। भाई! चौरासी लाख योनियों में अनन्तबार जन्म-मरण करके तू चकचूर हो गया, अब तो अरे! यह बात समझे बिना ये करोड़पति और अरबपति लोग सब दुःखी ही हैं। भाई! दिल्ली से सेठ साहू शान्तिप्रसादजी यहाँ पन्द्रह दिन पहले आये थे, तीन व्याख्यान सुने फिर एकान्त में मिलने आये। तब हमने उनसे कहा था – अरे सेठ! दुनिया के पाप के धन्धे में पड़कर यह आत्मा क्या चीज है, यह सुनने का भी तुम्हें समय नहीं मिलता, ऐसा तुम्हारा जीवन कितना दुःखमय है? कुछ विचार तो करो। बापू! यह समझे बिना संसार में भले किसी भी स्थान में रहे तो भी जीव दुःखी ही है।

पांच-दस करोड़ रुपये मिल जायें परन्तु यह तो सब धूल है। यह धूल तेरे आत्मा में कहाँ है? कदाचित् इसमें से पांच-पच्चीस लाख रुपये मन्दिर बनाने में तथा प्रतिष्ठा वगैरह कराने में दान दे दे तो भी धर्म नहीं होता। देखो, भावनगर से सत्साहित्य प्रकाशित होता है। उसके प्रकाशन के लिए एक मुमुक्षु ने एक लाख रुपये का दान दिया, लाख तो क्या, एक

करोड़ रुपयों का दान दे तो भी इसमें मन्द राग हो तो पुण्य बन्धेगा, धर्म जरा भी नहीं होता। भाई ! वीतराग का धर्म तो वीतराग भाव से ही प्रगट होता है। (राग से धर्म होना मानना तो मिथ्याभाव है।

यहाँ कहते हैं – यह भावना निर्विकार स्वसंवेदन लक्षण क्षायोपशमिक ज्ञानरूप होने से यद्यपि एकदेश व्यक्तिरूप है तो भी ध्याता पुरुष ऐसा भाता है कि **"जो सकलनिरावरण, अखण्ड, एक, प्रत्यक्ष प्रतिभासमय, अविनश्वर, शुद्ध पारिणामिक परमभाव-लक्षण निजपरमात्मद्रव्य है, वही मैं हूँ"**, **परन्तु ऐसा नहीं भाता कि "मैं खण्ड-ज्ञानरूप हूँ।"**

अहाहा धर्मी जीव को आनन्द की अनुभूति सहित स्वसंवेदन ज्ञान प्रगट हुआ। वह ज्ञान एकदेश व्यक्तिरूप है। उसमें अपना पूर्ण परमात्मद्रव्य जाना जाता है। परन्तु ज्ञानी उस खण्डज्ञानरूप दशा का ध्यान नहीं करते। लोगों को यह बात कठिन लगे, पर क्या करें ? जैन परमेश्वर का कहा हुआ मार्ग तो ऐसा है। अन्य मत में तो यह बात है ही नहीं। एक पद में आता है –

"धुन रे धुनियाँ अपनी धुन, जाकी धुन में पाप न पुन्न।"

अहा ! भगवान आत्मा की जिसे धुन लगी है उसे पुण्य-पाप के तरफ का लक्ष्य नहीं होता। आत्मा की धुन में पाप-पुण्य के भाव बिलकुल नहीं होते। हे भाई ! तू निर्मल आनन्द का नाथ प्रभु परमात्मद्रव्य है। एकबार इसकी धुन तो लगा, तुझे सम्यग्दर्शन होगा, सुखी होने का मार्ग प्रगट होगा। भाई ! यह सर्वज्ञ-परमात्मा की कसी हुई बात है, यह बात अन्य कहीं नहीं है।

कोई जगतकर्त्ता ईश्वर को माने या सर्वव्यापी एक ईश्वर को माने, पर ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है। सर्वज्ञ वीतरागदेव के सिवा

आत्मा कैसा है, वह किसी ने देखा नहीं, जाना नहीं। भले अन्य मतवाले आत्मा की बातें करें, पर ये सब कल्पित बातें हैं। सर्वज्ञ परमेश्वर ने जिस आत्मा को देखा और दिव्यध्वनि में कहा है वही यथार्थ है। अहा ! ऐसे अनन्तगुणमण्डित अखण्ड एक परम जिनस्वरूप आत्मा का जिसे स्वानुभव में भान हुआ, उसकी स्वानुभव की दशा एकदेश प्रगटरूप है। भाई ! धर्मात्मा को निज परमात्मद्रव्य के लक्ष्य से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दशा प्रगट हुई, वह दशा एकदेश व्यक्तिरूप है। धर्मी पुरुष उस दशा का ध्यान नहीं करता, पर अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय परमात्मद्रव्य मैं हूँ – ऐसा ध्यान करता है।

अहा ! त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेव ऐसा फरमाते हैं कि अनन्त शक्तिस्वरूप आत्मा का अनुभव करने पर अनन्त शक्तियों का एक अंश पर्याय में प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन के रूप में श्रद्धा का अंश प्रगट होता है, भावश्रुतज्ञान के रूप में ज्ञान अंश प्रगट होता है, चारित्र का अंश प्रगट होता है, वीर्य का अंश प्रगट होता है, स्वच्छता और प्रभुता का अंश भी पर्याय में व्यक्त होता है। वे सब निर्मल पर्यायें, ध्याता पुरुष के ध्यान का ध्येय नहीं हैं। ध्याता पुरुष उन प्रगट पर्यायों को जानता जरूर है, पर उन पर्यायों का ध्यान नहीं करता, उन पर्यायों को ध्याता नहीं है।

यह बात आठ दिन से चल रही है। आज यह आखिरी प्रवचन है। अहा ! सच्चिदानन्दमय निज भगवान के स्वरूप को कहने वाली भगवान के घर की यह भागवत् कथा है। स्व-द्रव्य के अवलम्बन से प्रगट होने वाली वीतराग-विज्ञानमय दशा को धर्मात्मा पुरुष नहीं ध्याता, तो किसे ध्याता है ? धर्मी पुरुष किसका ध्यान करते हैं ? त्रिकाल विद्यमान सकल निरावरण

अखण्ड, एक, प्रत्यक्ष प्रतिभासमय शुद्ध-पारिणामिक परमभाव-स्वरूप निज-परमात्मद्रव्य का ध्यान करते हैं।

अहाहा! अन्दर शक्तिस्वरूप जो आत्मवस्तु है वह त्रिकाल निरावरण है। भाई! तेरा द्रव्य, स्वभाव से सदा ही निरावरण है, पर्याय में राग के साथ और कर्म के साथ एक समय का सम्बन्ध व्यवहार से भले हो, पर अन्दर जो भूतार्थ वस्तु है, चिदानन्दमय सदा विद्यमान वस्तु है वह निरावरण है। भगवान! तेरी परमानन्दमय वस्तु अन्दर सदा निरावरण है, कर्म और राग के सम्बन्ध से रहित है। परन्तु यह सब कैसे बैठे? तू मान या न मान, पर अन्दर ज्ञानघन वस्तु सकल निरावरण है, और उसे धर्मी पुरुष ध्याता है।

अनन्त-अनन्त शक्तियों का पिण्ड प्रभु आत्मा सकल निरावरण है। तथा वह अनन्त गुणों से भरा होने पर भी गुण-भेद से रहित अखण्ड एक है, खण्डरूप नहीं, भेदरूप नहीं, पर्याय भेद से भी भेदरूप नहीं होता, ऐसा अभेद एक है। तथा स्वसंवेदन ज्ञान में प्रत्यक्ष जाना जाये, ऐसा प्रत्यक्ष प्रतिभासमय है। आत्मा स्वभाव से ही प्रत्यक्ष प्रतिभासमय है।

प्रश्न – परन्तु ऐसा जानने में तो नहीं आता?

उत्तर – तू राग में या निमित्त में इसे शोधे तो वह कैसे जानने में आये? आत्मा जहाँ है वहाँ अन्तर्मुख होकर देख तो अवश्य जानने में आये – ऐसा वह प्रत्यक्ष प्रतिभासमय है। आत्मा चैतन्यप्रकाश का बिम्ब है। ज्ञान को उसमें एकाग्र करके देखने वालों को वह अवश्य जानने में आता है। अहाहा! आत्मा अन्तर्मुख उपयोग में – निज स्वसंवेदन ज्ञान में जाना जाये, ऐसा प्रत्यक्ष प्रतिभासमय है। भले मतिज्ञान हो या श्रुत-ज्ञान हो, सम्यग्ज्ञान की एक समय की पर्याय में सम्पूर्ण आत्मा एक अखण्डरूप से ज्ञात हो जाये, ऐसा ही इसका प्रत्यक्ष स्वरूप है।

वह न जाना जाये यह बात ही कहाँ है ? भाई ! तू बाहर खोजे और वह ज्ञात न हो तो इसमें हम क्या करें ?

निज परमात्मतत्त्व सकल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय त्रिकाल अविनश्वर वस्तु है, और वही ध्याता पुरुष के ध्यान का ध्येय है। सम्यग्दर्शन का विषय भी यही है और कल्याणकारी ध्यान का ध्येय भी यही है।

अरे ! यह जीव चैतन्य निधानस्वरूप अपने भगवान को भूलकर अनादि से उल्टे रास्ते चढ़ गया है ! स्वयं चैतन्य लक्ष्मी से भरा हुआ त्रिकाल विद्यमान होने पर भी यह बाह्य जड़ लक्ष्मी और पुण्य की भावना करता है। तीन लोक का नाथ जिनस्वरूप प्रभु, ऐसा भिखारी होकर डोले – यह कैसे शोभे ? भगवान ! तू यह क्या करता है ? अपने उपयोग को अन्तर में ले जा, तुझे सुख निधान प्रभु आत्मा प्राप्त होगा। भाई ! तेरे सुख का यह एक ही उपाय है। धर्मी पुरुष अन्तर्मुख होकर परमभावस्वरूप इस एक को ही ध्याते हैं।

पर्याय की अपेक्षा से केवलज्ञानादि को परमभाव कहते हैं, पूर्ण दशा को परमभाव कहते हैं, परन्तु द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा से तो त्रिकाल एकस्वरूप शुद्ध-पारिणामिकभाव ही परमभाव है। छठवीं गाथा में जिसे एक ज्ञायकभाव कहा, वही परमभाव है। ऐसा परमभावस्वरूप अखण्ड एक ज्ञायकभाव जिसका भाव है वह निज परमात्मद्रव्य मैं हूँ – ऐसा धर्मात्मा ध्याता है। धर्मात्मा अपने को अरहन्तादि (अपने से अन्य) सर्वज्ञ परमात्मारूप ध्याते हैं – ऐसा नहीं है, वे तो अपने ही त्रिकाली आत्मा को "मैं परमात्मद्रव्य हूँ"– ऐसा ध्याते हैं अर्थात् अनुभव करते हैं। प्रगटरूप सर्वज्ञ परमात्मा तो परद्रव्य हैं, इन्हें ध्याने से तो राग होगा बापू !

प्रश्न – भगवान को तारण-तरण कहा जाता है न ?

उत्तर – हाँ, भगवान को व्यवहार से तारण-तरण कहते हैं। जब तरनेवाला स्वयं अपने स्वरूप का अनुभव करके तरता है तब भगवान को निमित्त होने के कारण व्यवहार से तारण-तरण कहा जाता है। ध्याता अपने आत्मा को अन्तर्मुखपने ध्यावे, यही मोक्ष के कारणरूप ध्यान है। कोई एकान्त से पर भगवान का ध्यान धरकर मोक्ष होना माने, तो इसमें तो बहुत फेर हो गया भाई! ध्याता के ध्यान का ऐसा स्वरूप नहीं है।

भाई! यह तो अनन्त तीर्थङ्करों ने गणधरों और मुनिवरों के समक्ष धर्मसभा में जो फरमाया है वही यहाँ दिगम्बर संत जगत के सामने प्रगट करते हैं। भगवान का यह संदेश है कि आत्मा स्वयं चिदानन्दघन प्रभु, सकल निरावरण, अखण्ड, एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय, अविश्वर है; शुद्ध-पारिणामिक परमभाव लक्षण परमात्मद्रव्य है। अहा! मैं ऐसा निज परमात्मद्रव्य हूँ, ध्याता पुरुष ऐसा ध्याते हैं, भाते हैं और यही मोक्ष के कारण रूप ध्यान है। जिसमें अपना त्रिकाली शुद्ध आत्मा ही ध्येयरूप है, वह परमार्थ ध्यान है और वही मोक्ष के कारणरूप है।

देखा? निज परमात्मद्रव्य ही मैं हूँ, परन्तु संवेदन की पर्याय मैं नहीं हूँ। सम्यग्दर्शन-ज्ञान की प्रगट पर्याय में निराकुल आनन्द का वेदन साथ में ही है। परन्तु वह पर्याय ऐसा भाती है कि यह त्रिकाली शुद्ध निज-परमात्मद्रव्य ही मैं हूँ, मैं यह प्रगट पर्याय नहीं हूँ। यह बात सूक्ष्म है भाई! परन्तु इसका स्वीकार किए बिना जन्म-मरण का अन्त नहीं आयेगा।

अहाहा! धर्मी ऐसा भाता है कि अखण्ड एक निज परमात्मद्रव्य मैं हूँ, परन्तु ऐसा नहीं भाता कि मैं भावश्रुतज्ञान हूँ। आनन्द के अनुभव सहित जो श्रुतज्ञान प्रगट हुआ वह एक समय की पर्याय है, इसलिये धर्मी पुरुष इसका ध्यान नहीं करता। पर्याय खण्डरूप विनश्वर है न? इसलिये धर्मात्मा

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय का ध्यान नहीं करता। अहा ! ध्यान करनेवाली पर्याय है, परन्तु वह पर्याय का – भेद का ध्यान नहीं करती। वह अखण्ड अभेद एक परमात्मद्रव्य को ही ध्याती है। धर्मात्मा की ध्यान की दशा एक ध्रुव को ही ध्याती है, वह भेद के सामने देखती ही नहीं। इसप्रकार धर्मी पुरुष निज-परमात्मतत्त्व को भाकर, ध्याकर, ध्यान के फलरूप अविचल मोक्ष दशा को प्राप्त हो जाता है।

अरेरे ! इसने अपने अन्तरंग परमात्म स्वरूप का इंकार करके अपने को मरण तुल्य कर दिया है ! इसने अनंतकाल में अपनी दया नहीं की। जैसा अपना पूर्ण त्रिकाली ध्रुव चैतन्य-तत्त्व है, वैसा उसे नहीं माना उसने अपने को रागवाला और पुण्यवाला माना है, पर्यायदृष्टि करके अपने को पर्यायरूप माना है। पर भाई ! इसप्रकार तूने स्वयं अपना घात ही किया है, क्योंकि वस्तु पर्यायमात्र नहीं है।

यहाँ कहते हैं – मैं निज कारण परमात्मद्रव्य हूँ। धर्मात्मा ऐसी भावना करता है, परन्तु मैं खण्डज्ञानरूप हूँ, ऐसी भावना नहीं करता। अहा ! समकिती को ज्ञान और आनन्द की निर्मल पर्याय प्रगटी है, उसे वह जानता है, पर उसकी भावना नहीं करता। निर्मल पर्याय के प्रति भी वह उदासीन है। भाई ! शास्त्र की यह भाषा और भाव जिसकी समझ में आता है उसे भवनाशिनी शुद्धात्म भावना प्रगट होती है और यही इस "तात्पर्यवृत्ति" का तात्पर्य है।

अब अन्त में कहते हैं – "विवेकी जनों को ऐसा जानना चाहिए कि यह व्याख्यान परस्पर सापेक्ष आगम-अध्यात्म दोनों नयों के अभिप्राय के अविरोध से कहा गया सिद्ध होता है "

देखो, भगवान के कहे हुए शास्त्रों में आगम और अध्यात्म के शास्त्र हैं। भगवान के द्वारा कहे हुए द्रव्यों का

जिसमें निरूपण हो, उसे आगम कहते हैं। अनंत आत्मा हैं, अनंतानंत पुद्गलद्रव्य हैं, एक धर्मास्तिकाय, एक अधर्मास्तिकाय, एक आकाश और असंख्यात कालाणु – इसप्रकार जाति से छह द्रव्य हैं, और संख्या से अनंत हैं। जिसमें इन सबका निरूपण हो, वह आगम है; तथा जिसमें शुद्ध निश्चयस्वरूप आत्मद्रव्य और उसकी निर्मल.पर्यायों का निरुपण हो, वह अध्यात्मशास्त्र है। आचार्य कहते हैं – यहाँ इन दोनों का सापेक्ष कथन किया है।

नयद्वय के अभिप्राय के अविरोधपूर्वक ही यहाँ कहने में आया है। इसलिये यह कथन सिद्ध है, निर्बाध है - ऐसा विवेकियों को जानना चाहिए। वर्तमान पर्याय में आनन्द का अनुभव होकर जो निर्विकल्प निर्मल भावनारूप दशा प्रगट हुई वह पर्यायार्थिकनय का – व्यवहारनय का विषय है, और जिसका लक्ष्य करके वह (निर्मलपर्याय) प्रगट हुई वह त्रिकाली शुद्ध-परमात्मद्रव्य शुद्ध-निश्चयनय का – द्रव्यार्थिकनय का विषय है। ऐसे नयद्वय के अविरोधपूर्वक सर्व कथन परस्पर सापेक्ष है। इसलिए यह कथन सिद्ध है, निर्दोष है, निर्बाध है – ऐसा विवेकी पुरुषों को जानना चाहिए। जिसे विवेक नहीं, वह भले जैसे रुचे वैसा माने, पर विवेकी पुरुषों को तो इसे प्रमाणरूप जान कर जैसे भवनाशिनी शुद्धात्मभावना प्रगट हो वैसे प्रवर्तना, क्योंकि ऐसी भावना द्वारा ही भव का नाश होकर सिद्धपद की की प्राप्ति होती है।

इसप्रकार आज आठ व्याख्यान द्वारा इस गाथा की जयसेनाचार्य कृत टीका पर प्रवचन पूरा होता है।

❖ भेद ज्ञान ❖

(मंदाक्रान्ता)

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलंभा-
द्रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण।
बिभ्रत्तोषं परममलालोकमम्लानमेकं,
ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ॥

श्लोकार्थ – भेदज्ञान प्रगट करने के अभ्यास से शुद्ध तत्त्व की उपलब्धि हुई, शुद्ध तत्त्व की उपलब्धि से राग समूह का विलय हुआ, राग समूह के विलय करने से कर्मों का संवर हुआ और कर्मों का संवर होने से, ज्ञान में ही निश्चल हुआ ऐसा यह ज्ञान उदय को प्राप्त हुआ – कि जो ज्ञान परम सन्तोष को (परम अतीन्द्रिय आनन्द को) धारण करता है, जिसका प्रकाश निर्मल है (अर्थात् रागादिक के कारण जो मलिनता थी वह अब नहीं है), जो अम्लान है (अर्थात् क्षायोपशमिक ज्ञान की भाँति कुम्हलाया हुआ – निर्बल नहीं है, सर्व लोकालोक को जाननेवाला है), जो एक है (अर्थात् क्षयोपशम से जो भेद था वह अब नहीं है) और जिसका उद्योत शाश्वत है अर्थात् जिसका प्रकाश अविनश्वर है।

– आचार्य अमृतचन्द्र, समयसार कलश १३२

समयसार गाथा ३२० : आत्मख्याति टीका

उत्थानिका, मूलगाथा, संस्कृत छाया, अमृतचन्द्राचार्य कृत संस्कृत टीका एवं उसका हिन्दी अनुवाद

कुत एतत ?

दिट्ठी जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव ।
जाणइ य बन्ध मोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव ॥३२०॥

दृष्टिः यथैव ज्ञानमकारकं तथाऽवेदकं चैव ।
जानाति च बन्धमोक्षं कर्मोदयं निर्जरां चैव ॥

यथात्र लोके दृष्टिर्दृश्यादत्यंतविभक्तत्वेन तत्करणवेदनयोरसमर्थत्वात् दृश्यं न करोति न वेदयते च, अन्यथाग्निदर्शनात्संधुक्षणवत् स्वयं ज्वलनकरणस्य,लोहपिंडवत्स्वयमौष्ण्यानु-

---

अब प्रश्न होता है कि यह (ज्ञानी कर्त्ता-भोक्ता नहीं है मात्र ज्ञाता ही है) कैसे है ? इसका उत्तर दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं –

ज्यों नेत्र, त्यों ही ज्ञान नहिं कारक, नहीं वेदक अहो ।
जाने हि कर्मोदय, निरजरा, बंध त्यों ही मोक्ष को ॥

अन्वयार्थ – [**यथा एव दृष्टिः**] जैसे नेत्र (दृश्य पदार्थों को करता-भोगता नहीं है, किन्तु देखता ही है), [**तथा**] उसी प्रकार [**ज्ञानम्**] ज्ञान [**अकारकं**] अकारक [**अवेदकं च एव**] तथा अवेदक है, [**च**] और [**बंधमोक्षं**] बन्ध, मोक्ष, [**कर्मोदयं**] कर्मोदय [**निर्जरां च एव**] तथा निर्जरा को [**जानाति**] जानता ही है ।

टीका – जैसे इस जगत में नेत्र दृश्य पदार्थ से अत्यन्त भिन्नता के कारण उसे करने-वेदने (भोगने) में असमर्थ होने से,दृश्य पदार्थ को न तो करता है और न भोगता है – यदि ऐसा न हो तो अग्नि को देखने पर, संधुक्षण[1] की भांति, अपने को

---

१. संधुक्षण – संधूकण; अग्नि जलानेवाला पदार्थ; अग्नि को चेतानेवाली वस्तु ।

भवनस्य च दुर्निवारत्वात्, किन्तु केवलं दर्शनमात्रस्वभावत्वात् तत्सर्वं केवलमेव पश्यति; तथा ज्ञानमपि स्वयं द्रष्टृत्वात् कर्मणोऽत्यंतविभक्तत्वेन निश्चयतस्तत्करणवेदनयोरसमर्थत्वात्कर्म न करोति न वेदयते च, किन्तु केवलं ज्ञानमात्रस्वभावत्वात्कर्म-बन्धं मोक्षं वा कर्मोदयं निर्जरां वा केवलमेव जानाति ।

(नेत्र को) अग्नि का कर्तृत्व (जलाना), और लोहे के गोले की भांति अपने को (नेत्र को) अग्नि का अनुभव दुर्निवार होना चाहिए ।[1] किन्तु केवल दर्शनमात्र स्वभाववाला होने से वह (नेत्र) सबको मात्र देखता ही है; इसीप्रकार ज्ञान भी, स्वयं (नेत्र की भांति) देखनेवाला होने से कर्म से अत्यन्त भिन्नता के कारण निश्चय से उसके करने-वेदने (भोगने) में असमर्थ होने से, कर्म को न तो करता है और न वेदता (भोगता) है, किन्तु केवल ज्ञानमात्र स्वभाववाला (जानने का स्वभाववाला) होने से कर्म के बन्ध को तथा मोक्ष को, और कर्म के उदय को तथा निर्जरा को मात्र जानता ही है ।

पूज्य कानजी स्वामी का प्रवचन

अब पूछते हैं कि ज्ञानी करता-भोगता नहीं – यह किस प्रकार है ? शिष्य पूछता है अर्थात् वह बहुत जिज्ञासा से बात सुनता है । भाई ! मात्र सुनने के लिए सुनना जुदी चीज है । शिष्य का आशय है कि ज्ञानी अनेक तरह के विकल्प करता हुआ, उन्हें वेदता हुआ दिखता है और आप कहते हैं कि वह करता नहीं, भोगता नहीं – ऐसा कैसे हो सकता है ? अहा ! आत्मा पर को, राग को, करता नहीं और वेदता नहीं – यह क्या चीज है ? ऐसे विस्मयकारी स्वभाव को जानने की

---

१. यदि नेत्र दृश्य पदार्थ को करता और भोगता हो तो नेत्र के द्वारा अग्नि जलनी चाहिए; और नेत्र को अग्नि की ऊष्णताका अनुभव अवश्य होना चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिए नेत्र दृश्य पदार्थ कर्त्ता और भोक्ता नहीं है ।

जिसे अन्तर में जिज्ञासा जगी है उस शिष्य को इस गाथा में दृष्टांतपूर्वक उत्तर देते हैं।

"जिसप्रकार इस जगत में नेत्र दृश्य पदार्थ से अत्यन्त भिन्नता के कारण उसे करने-वेदने में असमर्थ होने से दृश्य पदार्थ को करता नहीं और वेदता नहीं...."

पहले जगत का अस्तित्व सिद्ध किया है, छह द्रव्यमय जगत की मौजूदगी बताई है। जगत है – इसप्रकार उसकी अस्ति सिद्ध करके बात करते हैं कि यह नेत्र दृश्य अर्थात् देखने योग्य पदार्थ से अत्यन्त भिन्न है। भाई ! यह आँख जिस पदार्थ को देखती है, उस देखने योग्य पदार्थ से अत्यन्त भिन्न है, इसलिए वह (आँख) उन्हें करने और वेदने में असमर्थ है। देखो, यह सिद्धान्त कहा कि दृश्य पदार्थ से आँख भिन्न है और आँख से दृश्य पदार्थ भिन्न हैं। जहाँ ऐसी परस्पर भिन्नता है, वहाँ आँख भिन्न वस्तु को करे और वेदे कैसे ? जो अपने से अभिन्न हो उसे करे और वेदे, परन्तु भिन्न वस्तु को – पर को करे और वेदे, यह कैसे बने ? जिसे आँख स्पर्श भी नहीं करती उसे वह करे और भोगे यह कैसे बने ? भाई ! आँख जगत की चीज को देखती है, पर वह जगत की दृश्य वस्तु को करती नहीं और वेदती भी नहीं।

अब कहते हैं – यदि ऐसा न हो तो अग्नि को देखने से, संधुक्षण की तरह, अपने को (नेत्र को) अग्नि का कर्तृत्व (जलाना) और लोहे के गोले की तरह अपने को (नेत्र को) अग्नि का अनुभव दुर्निवार होना चाहिए।

"देखा ? भिन्नपने के कारण आँख दृश्य पदार्थ को करे और वेदे तो नहीं, परन्तु यदि करे और वेदे तो अग्नि को देखने से, सन्धुक्षण अर्थात् अग्नि को चेताने वाले – सुलगाने वाले की तरह आँख को अग्नि का कर्त्तापना आ जायगा।

जैसे, सन्धुक्षण सुलगाता है वैसे (पर से भिन्न होने पर भी आँख यदि पर को करे तो) आँख को भी पर को सुलगाने (जलाने) का प्रसंग आ जाएगा, अर्थात् जिस पदार्थ पर नजर पड़ेगी उस पदार्थ के सुलगाने का प्रसंग आएगा; और यदि आँख पर को वेदे तो जैसे लोहे का गोला अग्नि में ऊष्ण हो जाता है वैसे अग्नि को देखने मात्र से आँख अग्निमय हो जाएगी, जल जाएगी। यदि आँख भिन्न वस्तु का अनुभव (वेदन) करे तो आँख से भिन्न अग्नि के देखनें मात्र से आँख अग्निमय हो जाएगी; उसे लोहे के गोले की तरह अग्नि का अनुभव दुर्निवार हो जाएगा।

देखो, यहाँ दो बातें की हैं – एक तो यदि आँख पर को – भिन्न वस्तु को करे तो जैसे सन्धुक्षण अग्नि को करता है, वैसे आँख की जहाँ नजर पड़े वहाँ पदार्थ में अग्नि प्रगट हो जाए। यदि आँख पर को करे तो जैसे सन्धुक्षण द्वारा अग्नि जलती है वैसे आँख के द्वारा अग्नि जलना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि यदि आँख पर को वेदे तो अग्नि को देखने मात्र से ही आँख को अग्नि की उष्णता का अनुभव होना चाहिए, पर ऐसा नहीं है, अर्थात् आँख अग्नि को देखती तो है, पर वह अग्नि का अनुभव नहीं करती। यदि वह उसमें एकाकार हो तो अनुभव हो, पर अग्नि तो आँख से भिन्न चीज है। आँख भिन्न वस्तु को करती भी नहीं और वेदती भी नहीं।

आचार्यदेव कहते हैं – 'ऐसा तो नहीं होता' अर्थात् आँख से कोई जलता भी नहीं, और आँख अग्नि को वेदती भी नहीं। देखनें योग्य पदार्थ को आँख देखे; देखे इतना सम्बन्ध तो है, पर उसे करे और भोगे – ऐसा सम्बन्ध नहीं है। इसलिए दृश्य पदार्थ को नेत्र करता भी नहीं और वेदता भी नहीं।

"परन्तु केवल दर्शनमात्र स्वभाववाला होंने से वह सबको केवल देखता ही है।" देखो ? आँख का तो केवल देखना मात्र स्वभाव है और इसलिए वह सबको केवल देखती ही है; किसी को करे या वेदे – ऐसा नहीं है। यदि करे और वेदे तो देखने मात्र से ही वह दृश्य पदार्थ में अग्नि को करे और स्वयं ही अग्नि को वेदे; परन्तु अग्नि को आँख करतो नहीं, तथा अग्नि को देखने पर जलती भी नहीं, इसलिए, आँख सबको देखती ही है, किसी को करती नहीं, वेदती भी नहीं। यह दृष्टान्त कहा, अब इसे सिद्धान्त में उतारते हैं।

"उसीतरह ज्ञान भी, स्वयं (नेत्र की तरह) देखनेवाला होने से, कर्म से अत्यन्त भिन्नपने के कारण निश्चय से उसे करने-वेदने में असमर्थ होने से कर्म को करता नहीं और वेदता नहीं।"

ज्ञान अर्थात् ज्ञान स्वभावी आत्मा नेत्र की तरह देखने वाला है, वह पर को देखता है – ऐसा व्यवहार सबंध है। आँख जैसे पर को – दृश्य को देखती है वैसे भगवान आत्मा पर को देखता जरूर है, परन्तु देखने के अलावा पर का करना और वेदना उसमें नहीं है।

अहाहा ! नेत्र की तरह, ज्ञान अर्थात् भगवान आत्मा पर को देखता तो है, किन्तु पर को देखता है – ऐसा कहना व्यवहार है, परन्तु इतना व्यवहार यहाँ स्वीकार किया है।

प्रश्न – जैसे आत्मा पर को देखता है – ऐसा व्यवहार है, वैसे पर को करता है – ऐसा व्यवहार भी होना चाहिए न ?

उत्तर – नहीं, ऐसा नहीं है। आँख पर को देखती है इससे आँख को – अग्नि वगैरह को करती है या वेदती है – ऐसा नहीं है, इसीप्रकार भगवान आत्मा का पर के साथ उसे देखने का संबंध तो है; इतना तो व्यवहार संबंध है, पर अन्य को करे या वेदे – ऐसा नहीं है, समझ में आया ?

अहाहा ! भगवान आत्मा कर्म से अत्यन्त भिन्न है। अकेला भिन्न ही नहीं, अत्यन्त भिन्न है। जैसे, आँख दृश्य पदार्थ से भिन्न है वैसे, शुद्ध-चिदानन्दमय चैतन्यरत्नाकर प्रभु कर्म से अत्यन्त भिन्न है, पर पदार्थ से अत्यन्त भिन्न है। अत्यन्त भिन्नपने के कारण, जैसे आँख दृश्य पदार्थ को देखती है, परन्तु करती-वेदती नहीं है; वैसे ही भगवान आत्मा पर पदार्थ को देखे-जाने जरूर, परन्तु पर को करता या भोगता नहीं, भोग सकता भी नहीं।

प्रश्न – आत्मा देखने-जानने की अपनी क्रिया करता है तो फिर साथ में पर का भी करता है या नहीं ?

उत्तर – अपने परिणाम को भले करे और भोगे। (यहाँ तो निर्मल परिणाम को करने-भोगने की बात है, मलिन की बात नहीं।) आत्मा परको देखे-जाने इतने संबंध मात्र से पर को करे और पर को वेदे – ऐसा कहाँ से आया ? पर को देखना, इतना तो इसका संबंध है, परन्तु इतने संबंध मात्र से वह पर का क्या करे ? कुछ न करे। क्या वह हाथ-पैर को हिलाता है ? आँख को हिलाता है, या भाषा बोलता है ? कुछ नहीं करता। जो चीज है उसे देखता है, परन्तु देखने पर भी वह पर का कुछ करदे -- ऐसा नहीं है। आत्मा देखनेवाला होने पर भी कर्म से अत्यन्त भिन्नपने के कारण कर्म को नहीं करता, रागादि को नहीं करता।

ज्ञान अर्थात् ज्ञानस्वभावी आत्मा का परको देखने-जानने का संबंध तो कहा (व्यवहार से) पर निश्चय से उसमें देखने के अलावा परवस्तु को करने-वेदने की असमर्थता है। कर्म को करे और वेदे – ऐसी उसमें असमर्थता है, इसलिए ज्ञान अर्थात् आत्मा कर्म को करता या वेदता नहीं है।

यह सब सारे दिन व्यापार-धन्धे का ऊधम चलता है न ? स्वयं दुकान पर बैठा हो और माल आए-जाए, पैसा आए और जाए; तो यहाँ कहते हैं कि आत्मा का इन सबके साथ देखने मात्र का संबंध है, अर्थात् आत्मा इन्हें जानता जरूर है, परन्तु जानने के साथ-साथ वह सबको करे और वेदे – ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। जैसे आँख अग्नि वगैरह दृश्य पदार्थ में कुछ करती नहीं, वैसे भगवान आत्मा कर्म या कर्म से प्राप्त चीजों में कुछ करता या वेदता नहीं है।

"परन्तु केवल ज्ञानमात्रस्वभाववाला (जानने के स्वभाव वाला) होने से कर्म-बंध को तथा मोक्ष को, कर्म के उदय को तथा निर्जरा को केवल जानता ही है।"

देखा? आत्मा का केवल ज्ञानमात्र स्वभाव है, जानन-मात्र स्वभाव है, अर्थात् क्या ? कि रागादि करने का आत्मा का स्वभाव नहीं; परवस्तु तो कहीं दूर रही, राग करना आत्मा का स्वभाव नहीं है। केवल ज्ञानस्वभाव कहा न ? अर्थात् जाने सबको परन्तु करे किसी को नहीं, ऐसी बात है। विषयवासना के काल में संयोग को देखे, पर वह संयोग को और संयोगी-भावरूप वासना को करता नहीं, भोगता नहीं। आत्मा सामने की वस्तु को करता और भोगता हुआ दिखता है न ? परन्तु यहाँ कहते हैं – ज्ञानस्वभावी आत्मा का ज्ञानमात्र स्वभाव होने से वह पर का करता और भोगता नहीं है।

देखो, यहाँ ज्ञान केवल ज्ञानमात्रस्वभाववाला है – ऐसा कहकर एकान्त किया है, पर बापू ! ये तो सम्यक् एकान्त है भाई ! क्योंकि भगवान आत्मा का एकान्त ज्ञानस्वभाव ही है। कथंचित् ज्ञानस्वभाव और कथंचित् कर्त्ता-स्वभाव, ऐसा आत्म वस्तु का स्वरूप ही नहीं है, ऐसा ज्ञान का स्वरूप ही नहीं है।

प्रश्न -- कथंचित् बंध-मोक्ष का कर्त्तापना कहो तो अनेकान्त हो ?

उत्तर -- भाई ! ऐसा नहीं है; भगवान आत्मा केवल ज्ञानमात्र स्वभाववाला होने से जानना तो करे, पर वह बंध-मोक्ष को नहीं करता,इसी प्रकार वह राग को भी नहीं वेदता। ज्ञान बंध को – राग को जाने, पर उसे वह करे या वेदे – ऐसा उसका स्वरूप ही नहीं है। पर का अर्थात जवाहरात, हीरा, माणक मोती और कपड़ा वगैरह का करना तो कहीं दूर रह गया।

अहाहा ! यह आत्मा एक रजकण से लेकर सारी दुनिया को जानता है, परन्तु जानने के संबंध मात्र से इसे पर को तथा राग को करने और वेदने का संबंध हो जाये – ऐसी वस्तु नहीं है। ज्ञान स्वभावी वस्तु बहुत सूक्ष्म है भाई ! लोग तो इसे स्थूल संयोग के और राग के संबंध से मानते हैं, पर यहाँ कहते हैं – राग से और पर से भिन्न शुद्ध ज्ञानतत्व केवल ज्ञानमात्र स्वभाव वाला है और इसलिये वह कर्म के बन्ध को मात्र जानता ही है। क्या कहा ? कर्म का जो बंध होता है, उसे परज्ञेय रूप से जानता है, परन्तु करता है या भोगता है – ऐसा नहीं है। बहुत कठिन बात है। शुभभाव के पक्षवालों को यह बात कठिन पड़े, पर क्या करें ? वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है।

ज्ञान अर्थात् आत्मा को ज्ञानमात्र स्वभाववाला कहा, वहाँ वस्तु में – आत्मा में अकेला ज्ञान है – ऐसा न जानना, पर इसमें अन्य अनन्त गुण साथ ही अविनाभाव रूप से रहते हैं – ऐसा जानना। इसमें राग का या पर करना नहीं, इसलिये "ज्ञानमात्र भाववाला" कहा है। यह बोले नहीं, खाये नहीं, चले नहीं, अन्य को उपदेश दे नहीं, अन्य से उपदेश ले नहीं, पर का कुछ करे नहीं, ऐसा ज्ञानमात्र तत्व आत्मा है।

प्रश्न – कल दोपहर के प्रवचन में तो ऐसा आया था कि 'गुरु के वचनों को पाकर'– इसका क्या आशय है ?

उत्तर – भाई ! स्व के आश्रय से इसे समदृष्टि प्रगट हुई तो कहा कि "गुरु के वचनों को पाकर"; यह तो उस-उस काल में उपस्थित बाह्य निमित्त का ज्ञान कराने के लिये व्यवहार से कहा गया है। गुरु के वचनों को कोई लेता है – ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है।

यहाँ कहते हैं – केवल ज्ञानमात्र स्वभाववाला होने से आत्मा कर्म के बंध को करता नहीं, मात्र जानता ही है। देखो, शास्त्र में आता है कि चौथे गुणस्थान में इतनी प्रकृति सत्ता में होती है, इतनी का उदय होता है, इतनी प्रकृतियाँ बंधती हैं और इतनी की उदीरणा होती है; परन्तु भाई ! आत्मा तो जो कुछ होता है, उसे जानता ही है, करता नहीं। कर्म के उदयादि नजदीक की चीज को भी मात्र जानता ही है, करता नहीं, तो फिर पर चीज को करे, ये बात कहाँ रही ? बोलना-चालना पर की मदद करना, पर से मदद लेना, आदि पर की क्रिया करना आत्मा के स्वरूप में नहीं है।

देखो, इसमें एक "भाव" नाम का गुण है। इस गुण के कारण उसे प्रतिसमय नियत पर्याय होती ही है। अहा ! जब ऐसे द्रव्य का स्वीकार हुआ तब पर्याय में जो बंध,राग आदि है, उसे वह जानता ही है करता नहीं। उस गुणस्थान के अनुसार कर्म का उदय आता है और उदीरणा होती है, पर इसे वह करता नहीं। अहाहा ! यह ३२० गाथा बहुत ऊँची है, आखिरी हद है। इसमें बहुत खींचकर तू कहे तो, यह जानता-देखता है – ऐसा हम कह सकते हैं। वास्तव में तो जानना-देखना (परका) भी व्यवहार है।

अहाहा ! आत्मा स्वयं अपने को जानता है – यह निश्चय है और पर को जानता है – यह व्यवहार है; पर को करे और वेदे यह बात तो है ही नहीं। भाई ! यहाँ तो यह

कहना है कि तू अधिक आग्रह करे तो यह देखता-जानता है, बस इतना रख, पर का करना और वेदना तो आत्मा में है ही नहीं। ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा मोक्ष को करता है – ऐसा भी नहीं है।

प्रश्न -- तो इसका पुरुषार्थ क्या हुआ ?

उत्तर -- बापू ! आत्मा जानता है यही इसका पुरुषार्थ है। जानना इसका स्वभाव है, इसलिये जानने के प्रति वीर्य जागृत हो, यही पुरुषार्थ है, क्योंकि मैं करूँ तो पर्याय (पर का कार्य) हो – ऐसा वस्तु के स्वरूप में कहाँ है ?

ज्ञानमात्र स्वभाववाला होने से आत्मा बन्ध को नहीं करता तथा मोक्ष को नहीं करता। मोक्ष की पर्याय उस काल में होनेवाली है, वही होती है, जो है, उसे करना क्या ? जानने वाले को मोक्ष की पर्याय को करना कहाँ है ? बापू ! मोक्ष की पर्याय स्वयं होती है। 'है' उसे करना तो परस्पर विरुद्ध हो गया। जो 'है' उसे करना तो विरुद्ध है, 'है' उसे बस जानना ही है, यह वस्तुस्वरूप है।

द्रव्य सत् है, गुण सत् है और एक समय की पर्याय भी सत् है। मोक्ष की जो अवस्था होती है वह सत् है। जो सत्पने होती ही है उसे मैं करता हूँ – यह कैसे हो ? सत् है; जो है रूप से है, उसे क्या करूँ ? अहा ! जिसे यथार्थ सम्पूर्ण द्रव्य-दृष्टि हुई है, वह मोक्ष को भी जानता ही है, मोक्ष को करता नहीं। ऐसी बात है बापू ! यह बात बहुत सूक्ष्म है। लोग तो अब बाहर की क्रिया करने में ही उलझ गये हैं, परन्तु आत्मा ज्ञानमात्र स्वभाववाला होने से बन्ध को तथा मोक्ष को नहीं करता, मात्र जानता ही है।

आगे कहते हैं – "**ज्ञानमात्र स्वभाववाला होने से कर्म के उदय को तथा निर्जरा को जानता ही है।**" अहाहा ! कर्म

का उदय भी है, आत्मा उदय को पररूप से जानता है, इसके अलावा अन्य (करता है कि वेदता है) कुछ नहीं है। निर्जरा को भी बस जानता है, करता नहीं।

अशुद्धता का गलना, शुद्धता का बढ़ना और कर्म का खिर जाना – इसप्रकार निर्जरा तीन प्रकार की है। इसमें अशुद्धता का गलना व्यवहारनय से है और कर्म का टलना असद्भूत व्यवहारनय से है। शुद्धता का बढ़ना वास्तविक निर्जरा है। एक समय में ये तीनों ही हैं। अब ये हैं, इन्हें करना क्या? शुद्धता का बढ़ना एक समय का (उस-उस समय में) सत् है, यह पर्याय सत् – विद्यमान है, उसे करना क्या? अहाहा! शुद्धोपयोग की स्थिरता होने पर वहाँ शुद्धता का बढ़ना होता है। अब जो है, उपजता है, इसे करना क्या? जैसे मोक्ष उपजता है, वैसे निर्जरा भी (पर्याय होने से) उत्पन्न होती है। जो अपना अस्तित्व लेकर उत्पन्न होता है, उसे करना है – यह बात ही कहाँ रही, इसलिए निर्जरा को भी वह नहीं करता, मात्र जानता ही है।

अहाहा! पर्याय के क्रमबद्ध प्रवाह में अपने स्वकाल में निर्जरा होती है, उसे करना क्या? अब यह बात तो समझ में आती नहीं इसलिये लोग कहते हैं कि दूसरों की सहायता करना, गरीबों के आँसू पोछना, एक-दूसरे को मदद करना, अन्न, वस्त्र, औषधि देना इत्यादि धर्म है। 'जनसेवा वह प्रभुसेवा' लोग ऐसा कहते हैं, क्योंकि अनन्त काल से उनकी दृष्टि पराधीन है,परन्तु बापू! यह तो विपरीत दृष्टि है। यह वीतरागता का मारग नहीं है प्रभु!

जैसे, ज्ञानस्वभावी त्रिकाली आत्म-द्रव्य सहज सत् है, वैसे, उसकी एक समय की पर्याय भी वर्तमान सत् ही है। जैसे त्रिकाली को करना नहीं, वैसे वर्तमान वर्तती पर्याय को भी नहीं

करना है। बहुत सूक्ष्म बात है प्रभु! जैसे आत्म वस्तु त्रिकाल सत् है वैसे निर्जरा और मोक्ष की पर्याय भी उस-उस काल में सत् ही है। अब जो सत्पने 'है', इसे क्या करना? इसे मात्र जानना है। अहा! गजब बात की है। यह सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार है न? यहाँ तो जाननेरूप पर्याय निर्जरा और मोक्ष को जानती है – ऐसा कहा है, करती है, ऐसा नहीं कहा, परन्तु वास्तव में तो निर्जरा को और मोक्ष को उस-उस काल में जाने – ऐसी जाननेरूप पर्याय स्वतः होनेवाली ही है, वही होती है। क्या कहा? निर्जरा और मोक्ष की पर्याय उस-उस काल में विद्यमानरूप से है, उसे ज्ञान जानता है – ऐसा कहा जाता है, परन्तु जानने की पर्याय भी उस काल में उसी प्रकार सत् है। निर्जरा और मोक्ष है, इसलिये जाननेवाली पर्याय है – ऐसा नहीं है। अहा! ऐसा बहुत सूक्ष्म स्वरूप है।

भाई! यहाँ तो सत्रूप से सिद्ध करते हैं। एक समय की पर्याय है, पर वस्तु है; जो है उसे ज्ञान जानता है – ऐसा भले कहो, वास्तव में तो जाननेरूप पर्यायभी उस काल में सत् ही है। पर-वस्तु है, पर्याय है, इसलिये ज्ञान उसे जानता है – ऐसा नहीं है। जो है उसे उसी काल में उसी प्रकार से जाने – ऐसी ज्ञान की पर्याय भी स्वयं सत् है। अन्य वस्तु है, इसलिये वह उसे जानती है – ऐसा नहीं है। जानने वाली पर्याय अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं रखती, वह स्वयं अपने क्रम में जाननेरूप में अपने से ही विद्यमान है। अन्य को जानती है – ऐसा कहना तो व्यवहार है।

यहाँ चार बोल लिये हैं। अब बाकी क्या रहा? बन्ध, मोक्ष, उदय और निर्जरा को उस-उस काल में ज्ञान जानता ही है। राग – बन्ध होता है, उसे उस काल में ज्ञान स्वयं अपने से जानता हुआ प्रगट होता है, राग और बन्ध है, इसलिये ज्ञान जानता है – ऐसी अपेक्षा ज्ञान को नहीं है। राग की – बन्ध की

अपेक्षा रखकर जानने की पर्याय होती है – ऐसा नहीं है। वास्तव में इसे ज्ञान जानता है – ऐसा कहना व्यवहार है। अहाहा ! अनन्त गुण, अनन्त पर्यायें, बन्ध, मोक्ष आदि को उस-उस काल में ज्ञान की पर्याय उस-उस रूप से स्वयं जानती है – इसप्रकार वह स्वतः स्वतन्त्र उत्पन्न होती है।

कुछ लोग कहते हैं – जो आत्मा को पर का करता न माने वह दिगम्बर जैन नहीं। अरे प्रभु ! यह तू क्या कहता है ? ये दिगम्बराचार्य क्या कहते हैं ? यह तो देख ! तू कर्त्ता तो नहीं, पर वास्तव में तो पर का जाननेवाला भी नहीं है। जाननेवाली पर्याय जाननेवाले को जानती हुई सत्पने उत्पन्न होती है। यहाँ तो ज्ञान, बन्ध, उदय आदि को जानता है – ऐसा व्यवहार सिद्ध किया है। समझ में आया ? जाननेवाली पर्याय और बन्ध-मोक्ष आदि पर्याय तथा अनन्त गुणों की अनन्त पर्यायें अक्रम से (एक साथ ही) उत्पन्न होती हैं, उन्हें उस-उस काल में उसी प्रकार से ज्ञान जानता है – यह व्यवहार है।

प्रश्न – 'जानने' में गर्भितरूप से कर्त्तापना भी आया कि नहीं ?

उत्तर – अहा ! जानूँ अर्थात् जाननेरूप क्रिया करूँ – ऐसा भी नहीं है।ये जानने की पर्याय उस काल में सहजपने ही सत्रूप है,औरहोती है। अब जहाँ ऐसा वस्तुस्वरूप है,वहाँ मैं यह करूँऔर वह करूँ, मैंने बच्चों को पाला-पोषा और बड़ा किया, मैंने व्यापार-धंधा किया और बहुत पैसा कमाया – यह बात ही कहाँ रहती है ? बापू ! ये तो सब मिथ्या कल्पना ही है, सब गप – झूठ है।

अब जहाँ ज्ञानपर्याय अपनी निर्जरा और मोक्ष की पर्याय को भी जाने का काम करती है – यह भी कथनमात्र है, वहाँ पर पदार्थ को – रजकणों को और स्कंध को यह पलटावे

यह बात ही कहाँ रहती है ? आत्मा रोटी बनाये और खाये तथा व्यापार करे -- ये सब बातें झूठ ही हैं बापू ! ये तो उस-उस समय में वह (रोटी वगैरह पर्याय) सत् है, इसलिये इसप्रकार परिणमन होता है। उसमें तेरे हेतु की कहाँ जरुरत है ? और उस-उस काल में ज्ञान उसे ऐसा ही जानता है, इसमें उस पर्याय की कहाँ अपेक्षा है ? जैनतत्त्व बहुत गम्भीर है भाई ! यहाँ तो सिद्ध करना है कि, भगवान ! तू ज्ञान स्वरूप है तो तू इन्हें (बंध-मोक्ष आदि को) जाने, बस इतना मान, पर इसे करे और वेदे, यह तेरा स्वरूप ही नहीं है। अहो ! ऐसा मारग है।

प्रश्न – एकेन्द्रिय आदि की रक्षा करो, हिंसा न करो, क्या यह जैन का मारग नहीं है ?

उत्तर – ये सब व्यवहार के वचन हैं भाई ! क्या तू अन्य जीव रक्षा कर सकता है ? कभी नहीं। उस-उस काल में हिंसा होने वाली है ही नहीं, रक्षा होने वाली है, उसे ज्ञान जानता है, वह भी परजीव की रक्षा होती है – इसकी अपेक्षा रखकर ज्ञान होता है – ऐसा नहीं है। अहाहा ! सत् का ऐसा अलौकिक स्वरूप है।

श्री योगीन्द्रदेव भी कहते हैं –

ण वि उपज्जइ ण वि मरइ, बन्धु ण मोक्खु करेइ।
जिउ परमत्थे जोइया, जिणवर एउ भणेइ॥

श्री जयसेनाचार्य ने इसकी टीका करते हुए लिखा है कि '**जिनवर ऐसा कहते हैं कि**'; परन्तु भाई ! वाणी, वाणी के कारण से खिरती है, परन्तु भगवान उस काल में निमित्त हैं; वैसे वाणी भी उस काल मेंस्वतः विद्यमान है। (किसी अन्य के कारण कोई है – ऐसा नहीं है) यह तो सर्वोत्कृष्ट निमित्त का ज्ञान कराने के लिये कहा कि "जिणवर एउ भणेइ"।

जिनवर कहते हैं – हे योगी ! योग को आत्मा में

जोड़ने वाले हे योगी ! परमार्थ से जीव उपजता भी नहीं, और बन्ध तथा मोक्ष को भी नहीं करता । इसका अर्थ ही यह हुआ कि आत्मा का जो ज्ञानमात्र स्वभाव है, उसकी तरफ जहाँ जानने का लक्ष्य हुआ, वहाँ सब (करना) छूट गया, बस जो है, उसे यह जानता ही है । निर्जरा को और मोक्ष को भी ये जानता ही है । साधकदशा के काल में निर्जरा को जाने और साध्य-काल में मोक्ष को जाने, बस जाने इतना ही, वहाँ जानने की पर्याय भी उस काल में वैसी ही अपने से उत्पन्न होती है ।

यहाँ कहते हैं – परमार्थ से जीव उपजता नहीं और मरता भी नहीं । उत्पन्न नहीं होता, किसमें ? कि पर्याय में । परमार्थ से उसमें उत्पाद भी नहीं और व्यय भी नहीं । प्रवचनसार गाथा १०२ में आया है कि जो पर्याय उत्पन्न होती है उसे ध्रुव की अपेक्षा नहीं है । अब जहाँ इसे अपने ध्रुव की अपेक्षा भी नहीं, वहाँ पर की अपेक्षा की तो बात ही कहाँ रही ? बन्ध-मोक्ष इत्यादि जैसा ज्ञेय हो, ज्ञान वैसा ही उस काल में जानता है, पर उसे (ज्ञान की पर्याय को) बंध-मोक्ष आदि ज्ञेय की अपेक्षा नहीं है । अहाहा ! जाननेवाले ज्ञान में, जानने योग्य ज्ञेय बराबर आये, इसलिये ज्ञान उसे जानता है – ऐसी अपेक्षा लेकर ज्ञानपर्याय उत्पन्न नहीं होती है ।

अहाहा ! पूर्णानन्द का नाथ पूर्ण ज्ञानघन अकेला ज्ञान स्वभावमय भगवान आत्मा है, उसकी पर्याय में (ज्ञानपर्याय में) अनन्त पर्यायें और द्रव्य-गुण ज्ञात होते हैं; वे पर्यायें सहज होती हैं, उन्हें मैं उत्पन्न करता हूँ – ऐसा नहीं है । बन्ध को, मोक्ष को, उदय को, निर्जरा को केवल जानता हूँ, जो है उसे मात्र जानता ही हूँ, परन्तु करता हूँ या भोगता हूँ – ऐसा नहीं है । पर की दया करना और पर की मदद करना इत्यादि बाते तो अत्यन्त तत्त्व-विरुद्ध है, यह यथार्थ मार्ग नहीं है ।

नयों दोनों की सफलता

जीव का स्वरूप दो नयों से बराबर ज्ञात होता है। अकेले द्रव्यार्थिकनय या अकेले पर्यायार्थिकनय से ज्ञात नहीं होता; इसलिए दोनों नयों का उपदेश ग्रहण करने योग्य है।

एकान्त द्रव्य को ही स्वीकार करे और पर्याय को स्वीकार न करे, तो पर्याय के बिना द्रव्य का स्वीकार किसने किया ? काहे में किया ? और मात्र पर्याय को ही स्वीकार करे, द्रव्य को स्वीकार न करे तो पर्याय कहाँ दृष्टि लगाकर एकाग्र होगी ? इसलिए दोनों नयों का उपदेश स्वीकार करके द्रव्य-पर्याय की सन्धि करनेयोग्य है।

द्रव्य-पर्याय को सन्धि का अर्थ क्या ? पर्याय को पृथक् करके लक्ष में न लेते हुए, अन्तर्मुख करके द्रव्य के साथ एकाकार करना अर्थात् द्रव्य-पर्याय के भेद का विकल्प तोड़कर एकतारूप निर्विकल्प-अनुभव करना ही द्रव्य-पर्याय की सन्धि है – यही दोनो नयों की सफलता है।

पर्याय को जानते हुए उसी के विकल्प में रुक जाए, तो वह नय की सफलता नहीं है; उसीप्रकार द्रव्य को जानते हुए यदि उसमें एकाग्रता न करे तो वह भी नय को सफलता नहीं है। द्रव्य-पर्याय दोनों को जानकर दोनों के विकल्प तोड़कर पर्याय को द्रव्य में अन्तर्लीन, अभेद, एकाकार करके अनुभव करने में ही दोनों नयों की सफलता है।

—पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी

(आत्मधर्म वर्ष १६, अंक १८२, जून, १९६०, कवरपृष्ठ २)

प्रवचनसार गाथा ११४ : तत्त्व प्रदीपिका टीका

उत्थानिका, मूल गाथा, संस्कृत छाया, अमृतचन्द्राचार्य कृत संस्कृत टीका एवं उसका हिन्दी अनुवाद

अथैकद्रव्यस्यान्यत्वानन्यत्वविप्रतिषधमुद्धुनोति –

दव्वट्ठिएण सव्वं दव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो ।
हवदि य अण्णमणण्णं तक्काले तम्मयत्तादो ॥११४॥

द्रव्यार्थिकेन सर्वं द्रव्यं तत्पर्यायार्थिकेन पुनः ।
भवति चान्यदनन्यत्तत्काले तन्मयत्वात् ॥

सर्वस्य हि वस्तुनः सामान्यविशषात्मकत्वात्तत्स्वरूप-मुत्पश्यतां यथाक्रमं सामान्यविशेषौ परिच्छिन्दती द्वे किल चक्षुषी, द्रव्यार्थिकं पर्यायार्थिकं चेति ।

अब एक ही द्रव्य के अन्यपना और अनन्यपना होने में जो विरोध है, उसे दूर करते हैं। (अर्थात् उसमें विरोध नहीं आता – यह बतलाते हैं।)

द्रव्यार्थनय से द्रव्य सब है; वही पयार्यायार्थ से ।
है अन्य, क्योंकि उस समय तद्रूप है पर्याय से ॥

अन्वयार्थ – [**द्रव्यार्थिकेन**] द्रव्यार्थिक (नय) से [**सर्वं**] सब [**द्रव्यं**] द्रव्य है; [**पुनःच**] और [**पर्यायार्थिकेन**] पर्यायार्थिक (नय) से [**तत्**] वह (द्रव्य) [**अन्यत्**] अन्य-अन्य है, [**तत्काले तन्मयत्वात्**] क्योंकि उस समय तन्मय होने से [**अनन्यत्**] (द्रव्य, पर्यायों से) अनन्य है।

टीका – वास्तव में सभी वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होने से वस्तु का स्वरूप देखनेवालों के क्रमशः सामान्य और विशेष को जाननेवाली दो आँखें हैं – (१) द्रव्यार्थिक और (२) पर्यायार्थिक ।

तत्र पर्यायार्थिकमेकान्तनिमीलितं विधाय केवलोन्मीलितेन द्रव्यार्थिकेन यदावलोक्यते तदा नारकतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मकेषुविशेषेषुव्यवस्थितंजीवसामान्यमेकमवलोकयतामनवलोकितविशेषाणां तत्सर्वं जीवद्रव्यमिति प्रतिभाति यदा तु द्रव्यार्थिकमेकान्तनिमीलितं विधाय केवलोन्मीलितेन पर्यायार्थिकेनावलोक्यते तदा जीवद्रव्ये व्यवस्थितान्नारकतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मकान्विशेषाननेकानवलोकयतामनवलोकितसामान्यानामन्यदन्यत्प्रतिभाति । द्रव्यस्य तत्तद्विशेषकाले तत्तद्विशेषेभ्यस्तन्मयत्वेनानन्यत्वात् गणतृणपर्णदारुमयहव्यवाहवत् । यदा तु त उभे अपि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिके तुल्यकालोन्मीलिते

इनमें से पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके जब मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है; तब नारकपना, तिर्यन्चपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपना – पर्यायस्वरूप विशेषों में रहनेवाले एक जीवसामान्य को देखने वाले और विशेषों को न देखनेवाले जीवों को 'वह सब जीवद्रव्य है' – ऐसा भासित होता है । और जब द्रव्यार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है; तब जीवद्रव्य में रहनेवाले नारकपना, तिर्यन्चपना, मनुष्यपना देवपना और सिद्धपना – पर्यायस्वरूप अनेक विशेषों को देखनेवाले और सामान्य को न देखनेवाले जीवों को (वह जीवद्रव्य) अन्य-अन्य भासित होता है, क्योंकि द्रव्य उन-उन विशेषों के समय तन्मय होने से उन-उन विशेषों से अनन्य है – कण्डे, घास, पत्ते और काष्ठमय अग्नि की भाँति । (जैसे घास, लकड़ी इत्यादि को अग्नि उस-उस समम घासमय, लकड़ीमय इत्यादि होने से घास, लकड़ी इत्यादि से अनन्य है; उसीप्रकार द्रव्य उन-उन पर्यायरूप विशेषों के समय तन्मय होने से उनसे अनन्य है, पृथक् नहीं है ।) और जब उन द्रव्यार्थिक और

विधाय तत इतश्चावलोक्यते तदा नारकतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायेषु व्यवस्थितं जीवसामान्यं जीवसामान्ये च व्यवस्थिता नारकतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मका विशेषाश्च तुल्यकालमेवावलोक्यन्ते। तत्रैकचक्षुरवलोकनमेकदेशावलोकनं, द्विचक्षुरवलोकनं सर्वावलोकनं। ततः सर्वावलोकने द्रव्यस्यान्यत्वानन्यत्वं च न विप्रतिषिध्यते ॥

पर्यायार्थिक दोनों आँखों को एक ही साथ खोलकर उनके द्वारा और इनके द्वारा (द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक चक्षुओं के द्वारा) देखा जाता है; तब नारकपना, तिर्यञ्चपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपना – पर्यायों में रहनेवाला जीवसामान्य तथा जीवसामान्य में रहनेवाले नारकपना, तिर्यञ्चपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धत्व – पर्यायस्वरूप विशेष तुल्यकाल में ही (एक ही साथ) दिखाई देते हैं। वहाँ एक आँख से देखा जाना, वह एकदेश अवलोकन है और दोनों आँखों से देखना, वह सर्वावलोकन (सम्पूर्ण अवलोकन) है। इसलिये सर्वावलोकन में द्रव्य के अन्यत्व और अनन्यत्व विरोध को प्राप्त नहीं होते।

भावार्थ – प्रत्येक द्रव्य सामान्य-विशेषात्मक है, इसलिये प्रत्येक द्रव्य 'वह का वह' भी रहता है और 'बदलता' भी है। द्रव्य का स्वरूप ही ऐसा उभयात्मक होने से द्रव्य के अनन्यत्व में और अन्यत्व में विरोध नहीं है। जैसे – मरीचि और भगवान महावीर का, जीवसामान्य की अपेक्षा से अनन्यत्व और जीव के विशेषों की अपेक्षा से अन्यत्व होने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

द्रव्यार्थिकनयरूपी एक चक्षु से देखने पर द्रव्यसामान्य ही ज्ञात होता है, इसलिये द्रव्य अनन्य अर्थात् 'वह का वही' भासित होता है और पर्यायार्थिकनयरूपी दूसरी चक्षु से देखने

पर द्रव्य के पर्यायरूप विशेष ज्ञात होते हैं, इसलिए द्रव्य अन्य-अन्य भासित होता है। दोनों नयरूपी दोनों चक्षुओं से देखने पर द्रव्यसामान्य और द्रव्य के विशेष दोनों एकसाथ ज्ञात होते हैं, इसलिये द्रव्य अनन्य तथा अन्य-अन्य दोनों भासित होता है।

उत्थानिक व गाथा पर प्रवचन

यहाँ आचार्यदेव सामान्य-विशेषात्मक द्रव्य का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि द्रव्य सामान्यपने वैसे का वैसा ही अर्थात् अनन्य है और विशेषपने भिन्न-भिन्न – अन्य-अन्य है। अहाहा ! वस्तु पर्याय-अपेक्षा अन्य-अन्य होते हुए भी द्रव्य-अपेक्षा अनन्य ही है। यद्यपि यहाँ जीवद्रव्य पर अनन्यत्व व अन्यत्व घटित करेंगे, तथापि प्रत्येक द्रव्य,सामान्य अर्थात् वही का वही – अनन्य है तथा विशेष अर्थात् अन्य-अन्य भी है। द्रव्य के विशेष अर्थात् पर्यायें स्वकाल में अन्य-अन्य होते हुए भी उस द्रव्य से अनन्य ही हैं, द्रव्य से भिन्न नहीं हैं। भाई ! यह तो प्रत्येक द्रव्य के स्वरूप का कथन है।

कर्म, शरीर, परिवार, पैसा, इज्जत आदि के साथ आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि ये सब परद्रव्य तो आत्मा से भिन्न ही हैं, अन्य ही हैं, अनन्य नहीं हैं। यहाँ तो द्रव्य को अपने में ही अन्यत्व व अनन्यत्व होने में विरोध नहीं है – यह बात सिद्ध करते हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप में कायम रहकर प्रतिसमय भिन्न-भिन्न अर्थात् अन्य-अन्य अवस्थारूप होता है, अतः पर्याय-अपेक्षा उसे अन्य-अन्य भी कहा जाता है और वह अवस्था उस द्रव्य की ही है, द्रव्य स्वयं ही उस अवस्थारूप परिणमित हुआ है, इसलिए वह अनन्य भी कहा जाता है। अहाहा ! इसमें सारी दुनिया का परिचय दे दिया है।

देखो ! क्या सूक्ष्म तत्त्वज्ञान है। कहते हैं कि पर्याय में जीव को नारकी आदि अनेकपना होते हुए भी जीव अनन्य

है, क्योंकि आत्मा के साथ वह पर्याय तन्मय है। चाहे हिंसा के परिणाम हों या भक्ति-पूजा-दया-दान आदि के परिणाम हों या रौद्रध्यान के परिणाम हों – ये सभी परिणाम द्रव्य की पर्याय में हैं। वे परिणाम भिन्न-भिन्न अवस्थारूप हैं, इसलिए आत्मा को अन्य-अन्य भी कहा जाता है और आत्मा उन परिणामों में वर्तता है, इसलिए अनन्य भी कहा जाता है, परपदार्थों के साथ आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि वे तो सर्वथा भिन्न ही हैं, अनन्य नहीं हैं। यहाँ तो कहते हैं कि प्रत्येक द्रव्य की पर्याय अन्य-अन्य उत्पन्न होती हुई, द्रव्य से अनन्य है। अहाहा ! जो अन्य है, वही अनन्य है – ऐसा अविरोधपने सिद्ध करते हैं।

टीका पर प्रवचन

वास्तव में सभी वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होने से वस्तु का स्वरूप देखने वालों के क्रमशः सामान्य और विशेष को जाननेवाली दो आँखें हैं - (१) द्रव्यार्थिक और (२) पर्यायार्थिक।

देखो, यहाँ द्रव्य शब्द का प्रयोग न करके 'वस्तु' कहा है। **सर्वस्य हि वस्तुनः** – ऐसा कहा है, क्योंकि इसमें अनन्त शक्तियाँ बसी हुई हैं। अहाहा ! प्रत्येक द्रव्य को, चाहे वह परमाणु हो, आकाश हो या जीव हो – वस्तु कहा है; क्योंकि उसमें अनन्त अन्वयी गुण बसे हुए हैं। द्रव्य अनंत-अनंत गुणों – शक्तियों द्वारा भरा हुआ है, इसलिये उसे वस्तु कहा है। द्रव्य में बसी हुई शक्तियाँ तद्रूपपने द्रव्य की स्वयं की हैं। ऐसा नहीं है कि दूसरे की शक्ति यहाँ वस्तु में आ गई हो या वस्तु दूसरे की शक्तियो में जा बसी हो। देखो, यह वस्तु का स्वरूप ! सबसे निकट अपना शरीर या स्त्री-परिवार आदि सब बिलकुल भिन्न भिन्न चीजें हैं; जबकि द्रव्य का विशेष अन्य-अन्य होते हुए भी द्रव्यसे अनन्य है, क्योंकि वह विशेष – पर्याय द्रव्य से भिन्न

चीज नहीं हैं, इसी प्रकार वे भिन्न-भिन्न पर्यायें भी बिलकुल भिन्न ही हैं – ऐसा नहीं है। यद्यपि वे पहले नहीं थी और बाद में उत्पन्न हुईं – इस अपेक्षा से उन्हें अन्य भी कहा है; तथापि उनमें द्रव्य वर्त्तता है – इस अपेक्षा से अनन्य भी हैं।

देखो ! **वास्तव में सर्व वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होने से** – इस वाक्य में सर्व अर्थात् अनंत वस्तुओं के सम्बन्ध में कहा है, एक वस्तु के संबंध में नहीं कहा। प्रत्येक वस्तु स्वयं अपने से ही सामान्य-विशेषात्मक है; द्रव्यरूप से सामान्य और पर्याय-अपेक्षा विशेषरूप है – ऐसा द्रव्य का सामान्य-विशेषस्वरूप स्वतः है। जैसे सामान्यपना – एकरूपपना द्रव्य का स्वरूप है; उसी प्रकार विशेषपना – अन्यरूपपना भी उसका स्वरूप ही है। विशेष अर्थात् पर्याय परसंयोग या पर के द्वारा होती है – ऐसा नहीं है। प्रत्येक द्रव्य की उस-उस समय की वह विशेष अवस्था पहले नहीं थी और बाद में हुई, इसलिए वह भिन्न द्रव्य के कारण हुई है – ऐसा नहीं है। पहले नहीं थी और बाद में हुई – इस अपेक्षा से पर्याय अन्य है, तो भी उस विशेष – पर्याय में सामान्य वर्त्तता है, इसलिये वह अनन्य भी है; वह सामान्य से भिन्न चीज नहीं है। जैसे अन्य सभी परद्रव्य बिलकुल भिन्न हैं, वैसे पर्याय, सामान्य से भिन्न नहीं है।

देखो ! एक आत्मा का दूसरे आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ सामान्यपने सभी आत्माएँ एक हैं और विशेषपने भिन्न हैं – ऐसा नहीं है। अथवा, वे सामान्यपने भिन्न हैं और विशेषपने एक हैं – ऐसा भी नहीं है। इसीप्रकार अन्य समस्त आत्माएँ तथा अनंत परमाणु इस आत्मा से सामान्य-अपेक्षा एक हैं – ऐसा भी नहीं है। अथवा, सामान्य-अपेक्षा एक तथा विशेष-अपेक्षा भिन्न हैं – ऐसा भी नहीं है। यहाँ तो द्रव्य स्वयं ही अन्य-अन्य और स्वयं ही अनन्य है – यह बात कही जा रही है।

अहाहा ! अपने द्रव्य में प्रगट होनेवाली प्रत्येक पर्याय का काल अर्थात् क्रमानुपाती स्वकाल है। (यह बात गाथा ११३ में कही जा चुकी है) जो पर्याय स्वकाल में क्रमानुसार आनेवाली थी, वही पर्याय आई है। पूर्व पर्यायों की अपेक्षा से उसे अन्य कहते हैं, परन्तु वस्तु की अपेक्षा अनन्य है। इसलिए वह पर्याय किसी अन्य से हुई है – ऐसा है ही नहीं।

भाई ! भाषा तो सरल है, परन्तु उसका भाव बैठना[1] कठिन है; तथापि न बैठे – ऐसा भी नहीं है। समयसार कलश ६० की पाँडे राजमलजी कृत बालबोधिनी टीका में आता है कि "ज्ञान भिन्न व क्रोध भिन्न – ऐसा अनुभवना वस्तुतः कठिन ही है, पर वस्तु का शुद्धस्वरूप विचारने पर भिन्नपनेरूप स्वाद आता है (आत्मज्ञान होता है)"। यह भाव बैठना कठिन तो है, परन्तु द्रव्यसामान्यरूप भगवान आत्मा को देखने से अन्तर में भाव बैठ जाता है। भले ही देखनेवाली पर्याय विशेष है, परन्तु वह देखती है सामान्य को। यह पर्याय ऐसा मानती है कि मैं अखण्ड एक ज्ञायकस्वरूप विराजमान हूँ। अहाहा ! इस पर्याय का विषय मात्र पर्याय न रहकर द्रव्य बन जाता है, तब अन्तर में भाव बैठ जाता है।

यहाँ कहते हैं – वास्तव में सर्व वस्तु सामान्य-विशेषात्मक हैं। इसका यह अर्थ है कि वस्तु किसी अन्य से बनी है या कोई ईश्वर इसका कर्त्ता है – ऐसा नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की पर्याय को नहीं कर सकता। सर्व वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है अर्थात् कायम रहने की अपेक्षा से सामान्यरूप और पलटने की अपेक्षा से विशेषरूप है। सामान्य और विशेष – ये दोनों द्रव्य के स्वरूप हैं। आगे भी द्रव्य का स्वरूप दो रूप है – ऐसा आएगा।

---

१. बैठना=समझ में आना।

प्रश्न – प्रिय पत्नी और पुत्र के साथ भी आत्मा का संबंध नहीं है क्या ?

उत्तर – भाई ! किसकी पत्नी और किसका पुत्र ? जहाँ वस्तु का विशेष भी मात्र एकसमय टिकता है, वहाँ पत्नी-पुत्रादि आत्मा के हैं – यह बात कहाँ रही ? प्रभु ! प्रत्येक वस्तु कायम रहने की अपेक्षा ध्रुव है, तो भी उसका विशेष एकसमय मात्र ही टिकता है। पर्याय द्रव्य को होते हुए भी एकसमय मात्र ही टिकती है, इसलिये पूर्व पर्याय की अपेक्षा से उसे अन्य भी कहते है तथा उसमें द्रव्य वर्त्तता है, इसलिये अनन्य भी कहा; परंतु आत्मा से पर का तथा परमाणु से परमाणु का परस्पर कोई संबंध नहीं है। लोगों को यह बात कठिन लगती है, परंतु उन्हें विचार करने की फुरसत ही कहाँ है ? सारा दिन धंधा-व्यापार, कुटुम्ब-परिवार की सम्हाल और दुनिया के जंजाल में ही बीत जाता है और जिन्दगी ऐसे ही ऐसे पूरी हो जाती है।

मूल गाथा में वस्तु के सामान्य और विशेष को अनुक्रम से देखने की बात कही है परंतु टीका में दोनों को साथ में देखने की बात भी कहेंगे।

वहाँ सर्वप्रथम कहते हैं कि **इनमें से पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके**........। देखो, यहाँ से शुरू किया है। द्रव्यार्थिक चक्षु को बंद करके – ऐसी शुरूआत नहीं की। द्रव्य को देखने के लिए पर्यायार्थिक आँख को सर्वथा बंद कर दे। गजब बात है भाई ! पर्याय है अवश्य, परंतु उसकी तरफ देखनेवाली दृष्टि को बद कर दे – इसप्रकार बात शुरू की है। पहले तो यह कहा कि वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है। विशेष नहीं है – यह बात कहाँ है ? परंतु अब विशेष को देखने की आँख बंद करके – ऐसा कहा। अहाहा ! कथञ्चित् बंद करके – ऐसा नहीं कहा, परंतु पयायार्थिक **चक्षु को सर्वथा बंद** करके मात्र खुली

हुई द्रव्यार्थिक चक्षु द्वारा देखा जाता है – ऐसा कहा । ग्रहाहा ! त्रिकाली द्रव्य को जानना है न ? तो विशेष नय की ग्राँख बंद करके, द्रव्य जिसका प्रयोजन है – ऐसे द्रव्यार्थिक नय की ग्राँख से देख – ऐसा कहा है । ग्राचार्यदेव की भाषा तो देखो । कहते हैं कि 'मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु द्वारा……।'

ग्रवस्था को देखनेवाली पर्यायार्थिक ग्राँख को बंद कर दे ग्रौर द्रव्यसामान्य को देखने-जाननेवाली द्रव्यार्थिक ग्राँख से से देख; इससे तुझे ग्रवस्था में द्रव्यसामान्यरूप भगवान ग्रात्मा ज्ञात होगा । ग्रवस्था को देखनेवाली ग्राँख बद करके सामान्य को देखने पर भी, देखनेवाली विशेष पर्याय तो रहेगी, परंतु देखने-वाली पर्याय का विषय विशेष नहीं, सामान्य रहेगा ।

यहाँ कहते हैं कि विशेष को देखनेवाला पर्यायार्थिक ग्राँख बन्द कर दे । दूसरे को देखना बन्द कर दे – यह बात तो एक तरफ रही, क्योंकि परपदार्थों को देखनेवाली दृष्टि, पर्याया-र्थिक या द्रव्यार्थिक नहीं कहलाती । मात्र ग्रपने में दो प्रकार हैं; सामान्यपना ग्रर्थात् कायम रहना ग्रौर विशेषपना ग्रर्थात् बदलना । इन दोनों को देखनेवाली दो ग्राँखें हैं । ग्रब कहते हैं कि विशेष को देखनेवाली ग्राँख को बिलकुल बन्द करके खुली हुई द्रव्यार्थिक ग्राँख से देख । भाई ! भारी गजब बात है, यह बहुत ऊँची बात है, थोड़े शब्दों में बहुत भरा है ।

यहाँ स्त्री, पुत्र, मित्र, धन ग्रादि पर द्रव्यों को देखना बन्द कर दे – ऐसा नहीं कहा; क्योंकि जो स्वरूप में ही नहीं है, उसकी बात क्यों करें ? प्रभु ! तेरे स्वरूप में सामान्य ग्रौर विशेष – दो पहलू हैं; ग्रब इनमें से विशेष का देखनेवाली ग्राँख सर्वथा बन्द कर दे ग्रौर खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु से देख । देखो, विशेष को देखनेवाली ग्राँख कथञ्चित् बन्द कर दे ग्रौर कथञ्चित् खुली रख ग्रथवा उसे गौण कर दे – ऐसा नहीं

कहा। पर्याय को देखना बन्द कर दिया अर्थात् द्रव्य को देखनेवाला ज्ञान प्रगट हो गया। द्रव्यार्थिक चक्षु से द्रव्य को देखनेवाला ज्ञान भी है तो पर्यायरूप, परन्तु उसका विषय द्रव्य है। अहो ! यह तो तत्काल सम्यग्दर्शन प्रगट होने की बात है। कितनी गंभीर टीका है। भरतक्षेत्र में ऐसी बात अन्यत्र कहाँ है ? सन्तों ने त्रिलोकीनाथ परमात्मा की दिव्यध्वनि में से अमृत बरसाया है। जगत का महाभाग्य है कि ऐसी वाणी रह गई। (अर्थात् आज तक उपलब्ध है) भाई ! ऐसी वाणी सुनने का सौभाग्य मिला और तुझे फुरसत नहीं है ? भगवान ! तुझे कहाँ जाना है, कहाँ रहना है ? इसका विचार तो कर।

पहले कहा कि सर्व वस्तु सामान्य-विशेषात्मक हैं। अब कहते हैं कि तुझे अपनी वस्तु को देखना हो तो पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके, खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु से देख। पर्यायार्थिक आँख बन्द करके, पर को देख – ऐसा नहीं कहा। यहाँ तो अमृतस्वरूप भगवान आत्मा को देखने की बात है। सन्तों ने तो अमृत बरसाया है, परन्तु अरे ! जगत को उसकी दरकार कहाँ है ?

भगवान ! तुझ में सामान्य और विशेष – ऐसे दो प्रकार हैं। यहाँ बात तो सभी द्रव्यों की करना है, परन्तु जीव में घटित करके समझाया गया है।

अमृतचन्द्राचार्यदेव की टीका में स्पष्ट नहीं कहा, परन्तु जयसेनाचार्य की टीका में स्पष्ट कहा है कि **सर्वद्रव्येषु यथासंभवं ज्ञातव्यमित्यर्थः** – ये जयसेनाचार्यकृत टीका के अन्तिम शब्द हैं। भाई ! यह तो धैर्यवान पुरुष का काम है। समयसार कलशटीका में कहा है कि निभृत अर्थात् स्वरूप में एकाग्र होने वाले निश्चिन्त पुरुषों द्वारा इस वस्तु का विचार किया जाता है।

पहले 'पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके' – ऐसा

कहकर जोर दिया और अब उससे भी अधिक जोर देने के लिए कहते हैं – **जब मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है**....अर्थात् ज्ञान को इसप्रकार खोलकर देख कि द्रव्य दिखाई दे। 'मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु द्वारा' – ऐसा कहा है न ? अर्थात् द्रव्य को देखने वाले प्रगट ज्ञान द्वारा देख ! जब पर्याय को बन्द कर दिया, तब स्वद्रव्य को देखनेवाला ज्ञान प्रगट हुआ। जो नय द्रव्य को देखता है, वह प्रगट हुआ।

जब पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है, तब नारकपना, तिर्यंचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपना – पर्यायस्वरूप विशेषों में रहनेवाले एक जीवसामान्य को देखनेवाले और विशेषों को न देखनेवले जीवों को "वह सब जीवद्रव्य है' – ऐसा भासित होता है।

देखो ! देखनेवाली स्वयं पर्याय है, परन्तु वह पर्याय को देखना बन्द करके द्रव्य को देखनेवाले प्रगटज्ञान के द्वारा द्रव्य-सामान्य को देखती है। अहाहा ! क्या अमृत भर दिया है। अज्ञानी ऐसे ही (भाव समझे बिना) पढ़ जाता है और मान लेता है कि हमने स्वाध्याय किया। परन्तु भाई ! यह प्रवचन-सार अर्थात् दिव्यध्वनि का सार है, अत्यन्त गहन चीज है। एक भाई समयसार के सम्बन्ध में कहते थे कि महाराज (श्री कानजी स्वामी) समयसार का बहुत बखान करते हैं, परन्तु मैंने तो उसे पन्द्रह दिनों में ही पढ़ लिया। अरे भाई ! समयसार बहुत गहन चीज है, यह तो केवली के पेट की बात है प्रभु ! मात्र ऐसे ही पढ़ लेने से उसका रहस्य नहीं समझा जा सकता।

प्रश्न – श्रीमद् राजचन्द्र ने छह पद कहे हैं, उनमें सम्यग्दर्शन की व्याख्या की है; तो इन छह पदों को तो देखना चाहिए न ?

उत्तर – भाई ! यहाँ तो कहते हैं कि इन छह पदों के भेद को देखनेवाली आँख को सर्वथा बन्द कर और द्रव्य को देखने वाले प्रगट ज्ञानरूप द्रव्यार्थिकनय से देख । यह तो अमृत का घर है, यह तत्व मुश्किल से बाहर आया है; इसलिए इसे धीरज से सावधान होकर सुनना, समझना; ऐसा समय फिर कब आएगा ?

अहाहा ! कितने गम्भीर भाव भरे हैं। सामान्य विशेषात्मक वस्तुस्वरूप को देखने वालों की अनुक्रम से सामान्य और विशेष को जाननेवाली दो आँखें हैं अर्थात् देखनेवाला आत्मा अपने सामान्य और विशेष को देखता है, परन्तु पर को नहीं देखता । अपनी विशेष पर्याय में पर-पदार्थ ज्ञात होते हैं, परन्तु वास्तव में तो अपनी पर्याय ही ज्ञात होती है । सामान्य और विशेष को देखनेवाले दो चक्षु कहे हैं, परन्तु पर की बात नहीं की ।

वस्तुस्वरूप को देखनेवालों की अनुक्रम से सामान्य और विशेष को जाननेवाली दो चक्षु हैं, यहाँ 'अनुक्रम' शब्द का प्रयोग किया है । पहले सामान्य को जानना, फिर विशेष को जानना; क्योंकि सामान्य का यथार्थ ज्ञान होने पर ही विशेष का यथार्थ ज्ञान होता है । यहाँ पर को जानने की बात नहीं की, क्योंकि आत्मा पर को जानता ही नहीं है । वास्तव में वह अपनी पर्याय में पर्याय को ही जानता है । कितनी सूक्ष्म बात है ! पर को जानता है – ऐसा कहना असद्भूतव्यवहारनय है । वास्तव में तो त्रिकाली सामान्य आत्मा का विशेष, विशेष में विशेष को ही जानता है, पर को नहीं । यहाँ विशेष द्वारा पहले सामान्य को और फिर विशेष को जानने के लिए कहा है; क्योंकि सामान्य को जानने पर जो ज्ञान होता है, वह अपने विशेष को भी यथार्थ जानता है ।

सामान्य और विशेष को जाननेवाली दो चक्षु कही हैं, पर को जाननेवाली तीसरी चक्षु नहीं कही। अपने विशेष में पर-पदार्थ जान लिए जाते हैं, परन्तु वास्तव में तो अपनी पर्याय ही जानी जाती है। अहो! कितनी गम्भीर टीका है। अनुक्रम शब्द का प्रयोग किया है अर्थात् पहले सामान्य को देखना, फिर विशेष को देखना।

"उसमें पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके....." देखो! पयार्यार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करने की प्रेरणा दी है क्योंकि अपनी पर्याय में जो विशेषता ज्ञात होती है, वह अपनी पर्याय ही ज्ञात होती है, पर नहीं; इसलिए 'पर को जाननेवाली चक्षु बन्द करके' – ऐसा नहीं कहा, परन्तु अपनी पर्याय को जाननेवाली पर्यामार्थिक चक्षु सर्वथा बन्द करके – ऐसा कहा है। अहाहा! कितनी गम्भीर वस्तु है। प्रवचनसार, समयसार और नियमसार की एक-एक गाथा अति गम्भीर और अलौकिक है।

यहाँ कहते हैं कि भगवान! तू पर को जानता ही नहीं है। केवली भगवान लोकालोक को जानते हैं – ऐसा कहना असद्भूत व्यवहारनय है। भाई! आत्मा और पर का सम्बन्ध ही क्या है? स्व और पर के बीच अत्यन्ताभाव की अभेद्य दीवार है। स्वद्रव्य की पर्याय और परद्रव्य की पर्याय के बीच भी अत्यन्ताभाव की अभेद्य दीवार है। अपनी एकसमय की पर्याय में पर का प्रवेश ही कहाँ है? टीका में भी कहा है कि आत्मा अपने विशेष को जानता है। सामान्य को जानता है – पहले ऐसा कहकर फिर विशेष को जानता है – ऐसा कहा है। पर को जानता है – यह बात ही नहीं की।

पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके अर्थात् अपनी पर्याय का लक्ष्य छोड़कर मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु द्वारा अवलोकन कर। जब पर्याय को देखनेवाली पर्यायार्थिक दृष्टि

बन्द की तो अब कुछ देखनेवाली दृष्टि रही या नहीं ? हाँ, द्रव्य को देखनेवाली दृष्टि रही, इसलिए कहा कि मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु द्वारा देख। यह द्रव्यार्थिकनय प्रगटरूप (खुला हुआ) ज्ञान है। यद्यपि है तो वह भी पर्याय; तथापि वह पर्याय, पर्याय को न देखकर द्रव्य को देखती है। पर्याय को जाननेवाली चक्षु सर्वथा बन्द की है; परन्तु ज्ञान सर्वथा बन्द नहीं हुआ, वह तो उघड़ा हुआ है और द्रव्य को जानता है। देखो, कैसी अद्भुत बातें हैं। भाई ! यह तो तीन लोक के नाथ की दिव्यवाणी है।

भगवान् ! तू सामान्य-विशेषस्वरूप है। तेरे विशेष में पर को जानना है ही नहीं, क्योंकि उसमें अपनी पर्याय ही ज्ञात होती है। अब कहते हैं कि यह जो पर्याय ज्ञात होती है, उसे जाननेवाली पर्यायार्थिक चक्षु सर्वथा बन्द करने पर, देखनेवाला अन्य कोई ज्ञानचक्षु रहा कि नहीं ? तो कहते हैं कि द्रव्य को देखनेवाला ज्ञानचक्षु प्रगट उघाड़रूप है। कहा है न कि मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु द्वारा देख ! पर्याय को देखनेवाली आँख सर्वथा बन्द की है, परन्तु द्रव्यसामान्य को देखनेवाला ज्ञान तो खुला ही है। जब पर्याय को देखना सर्वथा बन्द किया, तभी द्रव्य को देखनेवाला ज्ञान प्रगट हो गया; क्योंकि स्वयं जाननहारा है। जाननेवाले की पर्याय में अँधेरा हो जाए अर्थात् जानना ही बंद हो जाए – ऐसा तो कभी हो ही नहीं सकता।

अहाहा ! पर्याय को देखनेवाली आँख सर्वथा बन्द कर दे – ऐसा कहकर आप क्या कहना चाहते हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं – तुझे शुद्ध त्रिकाली आत्मद्रव्य को देखना है न ? तो उसका ज्ञान पर्याय में होता है; इसलिए कहते हैं कि मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु द्वारा देख। तात्पर्य यह है कि पर्याय को देखनेवाले ज्ञान की पर्याय सर्वथा बन्द हो जाने पर

जो मात्र द्रव्य को जानती है – ऐसी अन्तर के ज्ञान की पर्याय प्रगट हो जाती है, उसके द्वारा द्रव्य को देख। लोगों को ऐसी बात सुनने को ही नहीं मिली, इसलिये वे एकान्त है – ऐसा कहते हैं; परन्तु बापू ! यह मिथ्या एकान्त नहीं सम्यक्-एकान्त है। भाई ! यह तेरे घर की बात है।

सन्त कहते हैं कि आत्मा को नारकपना, तिर्यञ्चपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपना – इन **पाँच** पर्यायस्वरूप देखनेवाली पर्याय की आँख बन्द कर दे। गजब बात है भाई ! सिद्धपर्याय को देखनेवाली आँख बन्द कर दे। स्वयं को वर्तमान में सिद्धपर्याय नहीं है, परन्तु श्रद्धा में है कि मेरी सिद्धपर्याय प्रगट होगी; इसलिये कहते हैं कि सिद्धपर्याय को देखनेवाली आँख भी बन्द कर दे।

समयसार में **वन्दित्तु सव्वसिद्धे** कहकर ज्ञानपर्याय में सर्व सिद्धों की स्थापना की है और यहाँ कहते हैं कि सर्व सिद्धों को जाननेवाली जो पर्याय है, उसे देखनेवाली पर्यायार्थिक चक्षु बन्द कर दे और मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु द्वारा देख। अहो ! यह तो सन्तों के हृदय की अथाह गहराई है। क्या कहें ? जितना गहनभाव ज्ञान में भासित होता है, उतना भाषा में नहीं आ सकता। यदि कोई ऐसा अभिमान करे कि हमने पढ़ा है, हमें आता है, तो उसका गर्व उतर जाए – ऐसी बात है।

भाई ! अपनी पर्याय को देखनेवाली आँख बन्द कर दे, फिर भी देखना तो चालू रहेगा। जहाँ पर्याय को देखना सर्वथा बन्द किया, वहाँ तुरन्त ही द्रव्य को देखनेवाला ज्ञान प्रगट हुआ। यह ज्ञान अपने पुरुषार्थ से प्रगट हुआ है। जब खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु द्वारा देखा जाता है; तब नारकपना, तिर्यञ्चपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपना – इन पर्यायस्वरूप विशेषों में रहनेवाले एक जीवसामान्य को ही देखा जाता है। पर्यायें

पाँच है और उन पाँचों पर्यायों में एक जीव सामान्य रहा हुआ है। पर्याय में दूसरी कोई चीज नहीं है, इसलिए देव-शास्त्र-गुरु और सिद्धों को भी निकाल दिया, मात्र सिद्धपना आदि पर्यायों में रहने वाले जीवसामान्य की बात की।

वहाँ देखने-जाननेवाली पर्याय रही कि नहीं ? हाँ, रही। जीवसामान्य को देखनेवाला द्रव्यार्थिकनय तो पर्याय ही है; परन्तु वह पर्याय को नहीं देखता, द्रव्यसामान्य को देखता है। भाई ! ऐसा वस्तु स्वरूप कभी सुना नहीं, इसलिए नया लगता है; परन्तु यह तो भगवान त्रिलोकनाथ की आत्मस्पर्शी वाणी है।

प्रश्न – 'एक जीवसामान्य को देखनेवाले' – ऐसा कहा है। यह 'सामान्य' क्या है ?

उत्तर – सामान्य अर्थात् बदले बिना कायम रहनेवाला अखण्ड एकरूप त्रिकाली आत्मद्रव्य। अस्ति रूप से कायम रहने वाला, एकरूप त्रिकाली आत्मद्रव्य ही सामान्य है। भाई ! सारे दिन व्यापार-धन्धे में फँसे रहने से तुझे यह बात सूक्ष्म लगती है; परन्तु यह बात समझने के लिए विशेष समय निकालना चाहिए, यह तो तेरे हित की बात है।

परपदार्थों को देखना तो दूर रहो, विषयों को और देव-शास्त्र-गुरु आदि को देखना तो दूर रहो, सिद्धपर्याय को देखनेवाली आँख भी बन्द करके, खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु द्वारा जब देखा जाता है, तब नारकपना आदि पर्यायों में रहने वाले एक जीवसामान्य को देखनेवाले और विशेषों को नहीं देखने वाले जीवों को 'वह सब जीवद्रव्य है' – ऐसा भासित होता है। अहाहा ! वह सब जीवद्रव्यहै – ऐसा भासित होता है अर्थात् पर्याय-विशेष या भेद भासित नहीं होते, परन्तु उन विशेषों में रहने वाला अनन्त-अनन्त पूर्णशक्तियों का सागर, अखण्ड,

एकरूप, भगवान आत्मा भासित होता है। यह भाषा साधारण लगती है, परन्तु इसमें भरे हुए भाव बहुत गम्भीर और गहरे हैं। प्रवचनसार, नियमसार व समयसार की तो बात ही क्या करना ? भरतक्षेत्र में यह बात अन्यत्र कहीं नहीं है। भाई ! जो इसप्रकार पुरुषार्थ करे, उसे वस्तु प्राप्त हुए बिना नहीं रहती। 'सब जीवद्रव्य है' – ऐसा भासित होता है अर्थात् ज्ञात होता है।

पर्याय को देखनेवाली दृष्टि को सर्वथा बन्द करने पर नारकपना आदि पाँचों पर्यायों में रहनेवाला जीवसामान्य ही दिखाई देता है। पर-द्रव्य में या उसकी पर्यायों में तो व्यवहार से भी जीवद्रव्य नहीं रहता, परन्तु वह अपनी नारकादि पाँचों पर्यायों में रहता है। ऐसे जीवसामान्य को देखनेवालों को 'वह सब जीवद्रव्य है' – ऐसा भासित होता है अर्थात् उक्त प्रकार से देखने पर जीवद्रव्य ही भासित होता है।

प्रश्न – इस निकृष्ट पंचमकाल में भी जीवद्रव्य भासित होता है क्या ?

उत्तर – प्रभु ! आत्मा को कोई काल बाधक नहीं होता। अरे ! जहाँ उसे पर्यायार्थिक नय भी लागू नहीं पड़ता, फिर काल की बात कहाँ रही ? यद्यपि आगे पर्यायार्थिक नय से देखने की बात करेंगे, परन्तु यहाँ पहले द्रव्यार्थिक नय से देखने की बात की है।

प्रश्न – द्रव्यार्थिक नय से द्रव्य को देखने के पश्चात् ही पर्याय का सच्चा ज्ञान होता है न ?

उत्तर – पर्याय का ज्ञान कब सच्चा होगा ? यह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो पर्याय की आँख बन्द करके द्रव्य को देखने की बात है। 'जीवद्रव्य पाँचों पर्यायों में रहनेवाला अखंड एकरूप तत्त्व है'– इसप्रकार देखनेवाला ज्ञान सच्चा है। यहाँ वह

सब जीवद्रव्य है – ऐसा भासित होता है – इस बात पर वजन है। पर्यायार्थिक नय से पर्याय भासित होती है – ऐसा भी कहेंगे, परन्तु ऐसा तो पर्याय का ज्ञान कराने के लिए कहेंगे। यहाँ तो द्रव्यार्थिक नय से देखने की बात से प्रारम्भ किया है।

प्रभु! तू अपनी पाँचों पर्यायों में रहता है, फिर भी पर्याय को देखनेवाली आँख बन्द करके तू जो वस्तु है, उसका खुले हुए द्रव्यार्थिक नय की चक्षु से अवलोकन कर! तब तुझे 'वह सब जीवद्रव्य हैं'– ऐसा भासित होगा; तब ही तुझे अनन्त-अनन्त शक्तियों का अभेद एकस्वरूप पूर्ण परमात्मा ज्ञात होगा। अज्ञानी जीव ऐसी बात शान्ति से – धैर्य से पढ़ते नहीं, विचारते नहीं और कहते हैं कि एकान्त है; परन्तु भाई! तू जैसा परिणाम करेगा, उसका वैसा ही फल तो होगा। असत्य का तो असत्य परिणाम ही आएगा।

मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु द्वारा पाँचों पर्यायस्वरूप विशेषों में रहनेवाला जीवद्रव्य दिखाई देता है। देखा! भले विशेष को देखनेवाली आँख बन्द कर दी है, परन्तु जीव विशेष-रहित नहीं है, वह तो विशेषों में रहनेवाला सामान्य है। गजब बात है भाई! जीवद्रव्य परपदार्थों में तो नहीं रहता, परन्तु अपनी पाँचों पर्यायों में रहता है। इसप्रकार सन्धि करके आचार्यदेव कहते हैं कि पर्यायस्वरूप विशेषों में रहनेवाले एक जीवसामान्य को देखनेवाले तथा विशेषों को नहीं देखनेवाले जीवों को 'वह सब जीवद्रव्य है'– ऐसा भासित होता है।

देखनेवाली स्वयं तो पर्याय है, परन्तु द्रव्य को देखती है। समयसार गाथा ३२० की जयसेनाचार्य की टीका में आता है "सकल निरावरण, अखण्ड, एक, प्रत्यक्ष प्रतिभासमय, अविनश्वर, शुद्ध-पारिणामिक, परमभावलक्षण, निज-परमात्मद्रव्य ही मैं हूँ"– ऐसा पर्याय जानती है, क्योंकि जानने का कार्य द्रव्य

में नहीं, पर्याय में होता है; इसलिए पर्याय ऐसा जानती है कि मैं निज-परमात्मद्रव्य हूँ। भले ही विशेषों में रहता हूँ, परन्तु मैं यह हूँ -- ऐसा पर्याय जानती है। ३२० गाथा के समान यहाँ भी यही बात कही है कि जीवसामान्य को देखनेवाले और विशेषों को नहीं देखनेवाले जीवों को 'वह सब जीवद्रव्य है' ऐसा भासित होता है।

पर्यायार्थिक नय तो बन्द हो गया है, अतः खुली हुई द्रव्यार्थिक नयरूप ज्ञानपर्याय, पर्यायविशेषों में रहनेवाले एक जीवसामान्य को देखती है। अहाहा ! दो-तीन पक्तियों में कितना सार भर दिया है। अहो ! केवली भगवान के आढ़तिया दिगम्बर सन्तों की वाणी में अगाध गहराई है ! भगवान का तो विरह हो गया, परन्तु यह वाणी रह गई (अर्थात् आज तक उपलब्ध है), इस वाणी ने भगवान का विरह भुला दिया है। पर्यायनय के बन्द हो जाने पर अन्दर विराजमान एकरूप तत्त्व को जाननेवाला ज्ञान खुल जाता है। जब पर्याय पर दृष्टि थी, तब द्रव्य को जाननेवाला ज्ञान अस्त था। अब पर्याय को देखना सर्वथा बन्द किया तो अन्तस्तत्त्व को देखनेवाला ज्ञान खुल गया। उस खुले हुए ज्ञान द्वारा विशेषों में रहनेवाले जीवसामान्य को देखनवाले और विशेषों को नहीं देखनेवाले जीवों को 'वह सब जीवद्रव्य है'– ऐसा भासित होता है। अरे प्रभु ! यह तो भागवत् कथा है, इसकी अगाधता के सामने क्षयोपशमज्ञान का क्या अभिमान करना ? अरे ! जब सन्त इसकी व्याख्या करते होंगे, तब उसका पार भी नहीं मिलता होगा। भाई ! भगवान ने जितना अपने ज्ञान में देखा, उसका अनन्तवाँ भाग दिव्यध्वनि में कहा गया और उतना भी झेला नहीं जा सका।

कहा है न –

मुख ओंकार धुनि सुनि, अर्थ गणधर विचारे।
रचि आगम उपदिशै, भविक जीव संशय निवारे॥

अहाहा ! यह बात दिव्यध्वनि के अनुसार आगम में आई हुई है; और जो उसे जानता है, उसे संशय नहीं रहता। द्रव्य को जाननेवाले खुले हुए ज्ञान द्वारा जब विशेषों में रहने वाले शुद्ध सामान्यजीव को जाना; तब संशय नहीं रहता, मिथ्यात्व का अंश भी नहीं रहता।

एक जीवसामान्य को देखनेवाले और विशेषों को नहीं देखने वाले जीवों को – इस वाक्यांश में 'जीवों' कहकर बहु-वचन का प्रयोग किया है 'जीव को' – ऐसा एकवचन प्रयोग नहीं किया अर्थात् वर्तमान पंचमकाल में पर्यायचक्षु को बन्द करके खुले हुए द्रव्यार्थिक चक्षु देखनेवाले अनेक जीव संभावित हैं। पंचमकाल के सन्त पंचमकाल के श्रोताओं से यह बात कहते हैं अर्थात् पंचमकाल में भी अनेक जीव अपने शुद्ध त्रिकाली द्रव्य को देखेंगे। आचार्य अपने श्रोताओं से यह नहीं कहते कि तुम से यह काम नहीं होगा;इसलिये मेरी समझ में नहीं आता – यह बात छोड़ दे। प्रभु ! जहाँ पर्याय को भी देखना बन्द करना है, वहाँ 'मैं यह नहीं जान सकता' – यह प्रश्न ही नहीं उठता। पर्याय को देखनेवाला ज्ञान सर्वथा बन्द करके जब द्रव्य को देखनेवाले खुले हुए ज्ञान द्वारा देखेगा,तभी तुझे सम्पूर्ण भगवान दिखेगा, अपने भगवान से तेरी भेंट होगी। तेरा भगवान गुप्त नहीं रहेगा।

अहाहा ! एक जीवसामान्य को देखनेवाले और विशेषों को नहीं देखनेवाले जीवों को – इसप्रकार बहुवचन प्रयोग करके पंचमकाल के संत पंचकाल के अपने श्रोताओं से कहते हैं कि भगवान् ! तू विश्वास कर ! तुझ में अनन्त सामर्थ्य है ! तू अनंत वीर्य से भरा हुआ भगवान है ! अतीन्द्रिय सुखामृत का सागर है ! तू स्त्री, पुरुष या नपुंसक नहीं है, अतः शरीर को मत देख ! आकृति को मत देख ! पर को मत देख ! अरे, तुझे

बाहर कहाँ देखना है ? ये सब तेरी जिस पर्याय में ज्ञात हो रहे हैं, उस पर्याय को भी देखनेवाली अपनी पर्यायचक्षु को बन्द कर दे और खुले हुए ज्ञान द्वारा द्रव्य को देख – इससे तुझे अनंत सुख का समुद्र भगवान आत्मा मिलेगा, तू निहाल हो जाएगा। अहाहा ! अद्‌भुत बात है।

अनेक जीवों को, द्रव्य को देखनेवाली खुली हुई आँख से 'यह सब जीवद्रव्य है' – ऐसा भासित होता है। पर्याय को देखनेवाली आँख को पूरी बन्द करके जीव द्रव्य को देखनेवाली दूसरी खुली हुई आँख से जाता है तब सब जीव द्रव्य है ऐसा भासित होता है; अतीन्द्रिय सुख का सागर, निर्मलानन्द प्रभु, आत्मा ज्ञात होता है अर्थात् आत्मद्रव्य इन्द्रियगम्य नहीं, विकल्पगम्य नहीं तथा पर्यायार्थिक नय द्वारा भी गम्य नहीं; मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु द्वारा ज्ञात होने योग्य तत्त्व है।

पहले पर्यायदृष्टि के समय द्रव्य को देखनेवाला ज्ञान बंद था। अवस्थाओं को ही देखनेवाली अपनी दृष्टि अपने स्वभाव को नहीं देखती थी। इसलिये कहा कि पर्याय को देखनेवाली आँख सर्वथा बन्द कर दे। पर्यायें अपने-अपने क्रम में स्वकाल में होंगी ही, परन्तु उन नारकादि पर्यायों को देखने वाली आँख सर्वथा बन्द कर दे। इसका मतलब यह नहीं कि देखना ही सर्वथा बन्द हो गया। पर्याय को देखना बन्द किया तो तुरन्त ही द्रव्य को देखनेवाले द्रव्यार्थिक नय का ज्ञान खुल जाता है और उसमें पूर्णानन्द का नाथ चित्‌चमत्कार प्रभु आत्मा ज्ञात होता है। दिगम्बर धर्म के सिवाय अन्यत्र ऐसी बात कहाँ है ? और सब जगह तो बाह्य क्रियाकाण्ड की बातें हैं; परन्तु भगवान् ! जिससे भव का अन्त न हो, उससे क्या लाभ ? बापू ! जिसप्रकार आत्मदृष्टि बिना ८४ लाख योनियों के अवतार में नरकादि के जो दुःख तूने भोगे हैं, उनका वर्णन तू

नहीं सुन सकता; उसीप्रकार अपने को देखने से जो आनन्द आता है, उसकी भी बात क्या करना ? उसका वर्णन भी नहीं किया जा सकता ।

अहाहा ! जब मात्र खुले हुए द्रव्यार्थिक चक्षु द्वारा देखने पर सब द्रव्य हैं – ऐसा भासित होता है अर्थात् त्रिकाली एकरूप द्रव्य ज्ञात होता है, तब पर्याय को जाननेवाला यथार्थ ज्ञान प्रगट होता है । ऐसा नहीं कहा कि पहले द्रव्यार्थिक नय को बन्द करके पर्याय को देख, परन्तु पर्यायार्थिक नय की चक्षु सर्वथा बन्द करके द्रव्यार्थिक चक्षु द्वारा देख – ऐसा कहा है; क्योंकि द्रव्य का यथार्थ स्वरूप भासित होने पर ही पर्याय यथार्थरूप से भासित होती है ।

अब कहते हैं कि **जब द्रव्यार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है; तब जीवद्रव्य में रहनेवाले नारकपना, तिर्यञ्चपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपना पर्यायस्वरूप अनेक विशेषो को देखनेवाले और सामान्य को न देखनेवाले जीवों को (वह जीवद्रव्य) अन्य-अन्य भासित होता है ।**

देखो ! द्रव्य का ज्ञान तो हुआ है । यह सब सामान्य है, द्रव्य है, वस्तु है – ऐसा ज्ञान होने पर उस तरफ देखनाबन्द करके अर्थात् उस तरफ का लक्ष्य छोड़कर – ऐसा क्यों कहा ? क्योंकि पर्याय भी अपनी है न ? पर्याय द्रव्य में – अपने में है, अतः उसे देखने के लिए द्रव्यार्थिक नय की चक्षु बन्द करने के लिये कहते हैं ।

बहुत सूक्ष्म बात है भाई ! केवलज्ञान को पाने की तैयारीवाले दिगम्बर सन्तों की वाणी बहुत गम्भीर है इतनी सत्य बात अन्यत्र कहाँ है ? कठिन पड़े, परन्तु क्या करें ? वस्तु स्वरूप ही ऐसा है ।

अहाहा ! संत मुनिवर कहते हैं – द्रव्यार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द कर । पहले पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके द्रव्यार्थिक चक्षु द्वारा द्रव्य को देखने की बात कही थी जिससे द्रव्य प्रगट भासित हुआ; और अब पर्याय का ज्ञान कराने के लिए द्रव्यार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके पर्यायार्थिक चक्षु से देखने की बात कहते हैं । पर्याय भी द्रव्य की है, द्रव्य में है; जीवद्रव्य पर्याय में रहा हुआ है, पर्याय में वर्त्त रहा है; इसलिए यहाँ पर्याय का ज्ञान कराना है । पर को जानने की तो यहाँ बात ही नहीं है, क्योंकि पर-द्रव्य का तो स्वद्रव्य से कोई सम्बन्ध ही नहीं है । अरे ! जिस पर्याय में परपदार्थ ज्ञात होते हैं, वह पर्याय भी स्वद्रव्य की है; उस पर्याय का परद्रव्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । वज्रवृषभनाराच संहनन के कारण भगवान को केवलज्ञान हुआ – ऐसा नहीं है । अरे ! उन्हें चार ज्ञान और मोक्ष का मार्ग था, इसलिए केवल ज्ञान हुआ है, परमार्थ से ऐसा भी नहीं है ।

यहाँ कहते हैं कि खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षु द्वारा पर्याय को देख ! यहाँ जाननेवाली पर्याय खुली हुई है । जैसे द्रव्य को देखनेवाला ज्ञान है, वैसे पर्याय को देखनेवाला ज्ञान भी है । जब द्रव्य को देखनेवाली द्रव्यार्थिक चक्षु बन्द हुई, तब पर्याय को देखनेवाली पर्यायार्थिक चक्षु खुली है । इसलिये कहा है कि द्रव्यार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके अर्थात् द्रव्य की तरफ का लक्ष्य छोड़कर मात्र खुले हुए पर्यायार्थिक चक्षु द्वारा देख । नारकादि पाँचों पर्यायें जीवद्रव्य में रही हैं, परपदार्थों में नहीं; अतः यहाँ 'जीवद्रव्य में रहनेवाले नारकपना' – ऐसा शब्द है, अर्थात् पर्यायें स्वद्रव्य में रहनेवाली हैं, परद्रव्य के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है । देखो ! ऐसा वस्तुस्वरूप है ।

अपरिचित व्यक्ति या क्रियाकाण्ड केआग्रहवाले को ऐसा लगे कि यह क्या कह रहे हैं ?परन्तु भाई ! यह तेरे घर की बात कह रहे हैं। तेरा घर कैसा है ? कितना महान है ? यह कभी तूने सुना नहीं, जाना नहीं।

द्रव्यार्थिक नय के चक्षु को सर्वथा बन्द करके अर्थात् उसका ज्ञान (खुला हुआ) तो है परन्तु उस तरफ लक्ष्य नहीं है, उघड़ी हुई पर्याय की ओर लक्ष्य है। यहाँ उघड़ी हुई पर्यायार्थिक चक्षु द्वारा जीव की अवस्थाओं को देखने की बात है।

यहाँ कहते है कि "द्रव्यार्थिक चक्षु को सर्वथा बंद करके मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षु द्वारा देखा जाए तो.........." अहाहा ! इसे अपने सामान्य और विशेष को ही देखना है,बाहर कहीं नहीं देखना है। भगवान् ! तेरे द्रव्य और पर्याय सिवाय शरीर, कर्म, कषाय इत्यादि बाहर का करना (अर्थात् पर का करना) तो अशक्य है, अरे ! इन्हें देखना भी नहीं है। पर्यायार्थिक चक्षु से तू जो देख रहा है, वह तेरी पर्याय है।

जिसप्रकार यह बाह्य औदारिक शरीर है, उसीप्रकार परमपारिणामिक स्वभावभावरूप चैतन्यभगवान, चैतन्यशरीर अर्थात् चैतन्य विग्रह है। शास्त्र में 'विग्रह' शब्द आता है। विग्रह अर्थात् शरीर तीन तीन प्रकार के हैं – (१) जड़शरीर (२) कषायशरीर और (३) चैतन्यशरीर। औदारिक, तैजस, कार्माण, आहारक और वैक्रियक आदि सब जड़शरीर हैं। जीव की पर्याय में होनेवाले पुण्य-पापरूप विकारी परिणाम, नारकादि गतियों के उदयभाव आदि चैतन्य का विकृत शरीर अर्थात् कषाय-शरीर है,और शुद्ध त्रिकाली ज्ञायकभाव निजशरीर है, निजवस्तु है। शुद्ध चैतन्य शरीरी भगवान आत्मा की अपेक्षा कषाय शरीर भी पर विग्रह ही है। निज चैतन्य शरीर को देखने के लिए एक बार तो पर्याय की आँख बन्द कर।

स्व को देखा है,जाना है; पर्याय में भी स्व-सामान्य वर्त्त रहा है, अतः पर्याय को देखने के लिए स्व का – द्रव्य-सामान्य का लक्ष्य छोड़कर पर्याय को देखनेवाली चक्षु द्वारा देखने के लिए कहते हैं। तेरी पर्याय के अस्तित्व में औदारिकादि शरीर का एक अंश भी नहीं है, तेरी पर्याय के अस्तित्व में तो चार गतियाँ तथा सिद्ध पर्याय हैं। 'जीवद्रव्य में रहनेवाली' – ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है न ? तेरी पर्याय में नर-नारकादि पर्यायों का अस्तित्व है और उसे देखनेवाला ज्ञान प्रगट है। उन पर्यायों को देखनेवाली पर्यायार्थिक चक्षु द्वारा जान ! लोगों को तो बाहर से धर्म करना है, परन्तु भाई बाहर तेरा अस्तित्व ही नहीं है, फिर बाहर से धर्म कैसे होगा ? तुझे यह बात सुनने की भी फुरसत नहीं है तो निर्णय कहाँ से करेगा ?

नारकादि गतियाँ पर्याय में हैं, अपनी त्रिकाली चीज में नहीं हैं। दया, दान, भक्ति आदि मंदकषाय के परिणाम भी अपनी पर्याय में हैं; परन्तु अपनी त्रिकाली वस्तु में नहीं हैं। जब निज परमात्मस्वरूप, त्रिकाली, चैतन्यमय, जीववस्तु का ज्ञान हुआ, तभी पर्याय को देखनेवाला ज्ञान भी खुल गया। वह ज्ञान शास्त्र पढ़ने से खुला है – ऐसा नहीं है। जीवसामान्य – त्रिकाल, ज्ञायकमूर्ति, प्रभु आत्मा को जानने पर पर्याय को देखनेवाला ज्ञान खुल गया है। भाई ! एकभवावतारी इन्द्र भी खरगोश के समान विनम्रता से बैठकर जिनकी वाणी सुनते हैं – ऐसे त्रिलोकीनाथ जिनेन्द्र परमेश्वर की यह वाणी है। इसकी गम्भीरता की बात क्या करें ?

जब पर्याय को देखनेवाली आँख बन्द की, सर्वथा बन्द की; तब तो द्रव्यार्थिक चक्षु द्वारा देखा गया, परन्तु अब खुले हुए पर्यायार्थिक ज्ञान से जीव में रहनेवाली पर्यायों को देख।

खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षु द्वारा नारकादिपर्यायस्वरूप विशेषों को देखनेवाले और सामान्य को नहीं देखनेवाले (सामान्य की ओर लक्ष्य नहीं करनेवाले) जीवों को वह जीवद्रव्य अन्य-अन्य भासित होता है।

जीवद्रव्य में वे पयायें अन्य-अन्य भासित होती हैं। देवपर्याय जुदी, सिद्धपर्याय जुदी – इसप्रकार अन्य-अन्य भासित होती हैं।

द्रव्य उन-उन विशेषों के समय उन-उन विशेषों से तन्मय होने से अनन्य है – कण्डे, घास, पत्ते और काष्ठयय अग्नि की भाँति।

उन-उन विशेषों अर्थात् नारकपना, तिर्यञ्चपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपना – इन पर्यायों में उस-उस काल में जीवद्रव्य तन्मय है; परन्तु औदारिक शरीर, स्त्री, परिवार, मकान, पैसा आदि के साथ अंशमात्र भी तन्मय नहीं है; क्योंकि ये सब जीव से पृथक बाह्य वस्तुएँ हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि ऐसी बातें समझने के लिए तो बाबा (साधु) बनना पड़ेगा। परन्तु भाई ! देह और रागादि से भिन्न होने के कारण आत्मा बाबा ही है। भाई ! तेरे त्रिकाली सामान्य स्वभाव में चार गतियाँ तथा रागादि नहीं है; परन्तु यहाँ तो पर्याय का अस्तित्व सिद्ध करना है, क्योंकि पर्याय परपदार्थों के कारण नहीं है। 'जीवद्रव्य में रहनेवाली'– ऐसा कहा है, 'जीव की पर्याय में रहनेवाली'– ऐसा नहीं कहा, क्योंकि जीवद्रव्य उन-उन पर्यायों से तन्मय है। पर्यायदृष्टि से जीवद्रव्य स्वयं पर्याय में ही है और पर्यायार्थिक नय से देखने पर वह अन्य-अन्य भासित होता है। जीवसामान्य की दृष्टि से देखने पर, वही का वही अर्थात् अनन्य भासित होता है और पर्याय-दृष्टि से देखने पर अन्य-अन्य भासित होता है। भाई ! यह

जन्म-मरण से रहित होने की बात है। जैसे – आकाश में बिजली की चमक होने पर यदि तुझे धागे में मोती पिरोना हो तो पिरो ले, वैसे –बिजली की चमक जैसा ही क्षणिक और दुर्लभ मनुष्य भव तथा जिनवाणी का योग पाकर आत्महित करना हो तो कर ले।

त्रिकाली सामान्य तो अनन्य (एकरूप) ही है, वह अन्यरूप भासित नहीं होता है; परन्तु यहाँ तो सामान्य को देखनेवाले को अपने विशेष को देखनेवाला ज्ञान खुला है – खिला है। पर्याय को देखनेवाले ज्ञान से देखने पर, विशेषों को देखने वाले और सामान्य को नहीं देखनेवाले जीवों को वह (जीवद्रव्य) अन्य-अन्य भासित होता है; क्योंकि द्रव्य उन-उन विशेषों के काल में उनसे तन्मय है। अहाहा! परस्वभावभाव, ज्ञायक-भावरूप द्रव्य उन-उन विशेषों के काल में उनसे तन्मय है; परन्तु शरीर, मन, वाणी, इन्द्रियाँ, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, बाग-बँगला आदि में कभी तन्मय नहीं होता, हो भी नहीं सकता। फिर भी अज्ञानी जीव अनन्तकाल से इन्हीं में तन्मय होकर इन्हें अपना मान रहे हैं। भाई! जो चीज तेरी पर्याय में भी नहीं है, तू उसे अपनी मानकर उसी की सम्हाल में अभी भी समय गँवा रहा है। भाई! तुझे क्या करना है? कहाँ रहना है? इसका निर्णय तो कर। क्या तुझे अपने ऊपर दया नहीं आती? अनन्तकाल से तो चार गति मे रखड़ रहा है।

प्रश्न – एक ओर तो आप कहते हैं कि परमस्वभावभाव, शुद्धज्ञायकभावरूप त्रिकालो सामान्य वस्तु में गति नहीं, गुणभेद भी नहीं है; और यहाँ कह रहे हैं कि द्रव्य उन-उन विशेषों के काल में तन्मय है – इन विरुद्ध कथनों का क्या आशय है?

उत्तर – भाई! परमस्वभावभाव शुद्धज्ञायकभावरूप त्रिकाली सामान्यवस्तु की दृष्टि कराने के लिए कहते हैं कि उसमें गति नहीं है, गुणभेद भी नहीं है; और यहाँ उन-उन

विशेषों के काल में द्रव्य उनमें वर्त्त रहा है, वे विशेष उस काल में उस द्रव्य के हैं – यह ज्ञान कराने के लिए कहते हैं यहाँ कि उन-उन विशेषों के काल में द्रव्य उनमें तन्मय है। जहाँ जो अपेक्षा हो, उसे यथार्थ समझना चाहिए।

द्रव्य उन-उन विशेषों के काल में तन्मय होने के कारण उन-उन विशेषों से अनन्य है। मनुष्यगतिरूप पर्याय में जीवद्रव्य तन्मय है। मनुष्यगति अर्थात् मनुष्यशरीर नहीं, गतियोग्य जीव की अवस्थाविशेष ही मनुष्यगति है। मनुष्य के योग्य गति की योग्यता में जीवद्रव्य तन्मय है। उन-उन विशेषों के काल में तन्मय होने से द्रव्य उनसे अनन्य है अर्थात् जीवद्रव्य उस काल में विशेषों से जुदा नहीं है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव जगत के सामने भगवान की वाणी का रहस्योद्घाटन करते हैं; भाई! तुझमें सामान्य और विशेष दो भाग हैं, इसके अलावा तीसरा कुछ भी (पर-द्रव्य का अंश भी) त्रिकाल और त्रिलोक में भी तुझमें नहीं है। जिसकी व्यवस्था और सम्हाल में तू रुका हुआ है – ऐसे शरीर, वाणी, कुटुम्ब आदि का एक अंश भी तुझ में नहीं है। अहाहा! मैं शरीर को सम्हाल के रखूँ, अनुकूल भोजन करूँ, ऐसी भाषा बोलूँ, परिवार को संगठित रखूँ – इसप्रकार पर-द्रव्य की व्यवस्था का तेरा अभिप्राय मिथ्या है, क्योंकि यह व्यवस्था तुझसे नहीं होती, तू पर का कुछ कर ही नहीं सकता। फिर भी भगवान्! तू इसमें मूर्छित हो रहा है। तुझे क्या करना है प्रभु? क्या तुझे रखड़ना ही है?

प्रश्न – शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् – ऐसा कहा है न?

उत्तर – यह तो निमित्त का कथन किया है। वास्तव में तो राग से भिन्न पड़ना ही धर्म का साधन है। प्रज्ञा-ब्रह्मस्वरूप

परमात्मद्रव्य को दृष्टि और अनुभव करना ही साधन है। ज्ञानी को प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप परमात्मद्रव्य का ज्ञान तो है; परन्तु साथ में मनुष्यपनारूप जो गति है,उसका भी ज्ञान है। मनुष्यगति में से देवगति में जाएगा, (क्योंकि धर्मात्मा को तो मनुष्यगति से देवगति होती है) वहाँ भी जीवद्रव्य उस देवगतिरूप विशेष में तन्मय होगा। इसप्रकार द्रव्य विशेषों से तन्मय है; अतः अनन्य है, अन्य नहीं है।

अहाहा ! खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षु द्वारा देखने पर जीव अन्य-अन्य भासित होता है, क्योंकि उन-उन विशेषों के काल में द्रव्य तन्मय है। एक पर्याय के समय दूसरी पर्याय नहीं है, नारक पर्याय के समय मनुष्य पर्याय नहीं है। एकसमय में एक ही पर्याय है, इसलिए अन्य-अन्य पर्यायों की अपेक्षा जीव अन्य-अन्य भासित होता है, क्योंकि वह उनमें तन्मय है।

देखो ! क्षायिक सम्यग्दृष्टि श्रेणिक राजा इस समय प्रथम नरक में हैं। वे वहाँ के संयोगों में तन्मय नहीं हैं, अपितु नरकगतिरूप वर्त्तमान पर्याय में तन्मय हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि उनकी उस-उस काल में उस पर्याय से वर्त्तमान जितनी ही तन्मयता है। वे स्वयं सम्यग्दृष्टि है न ? इसलिए गति को अपने स्वरूप से भिन्न जानते हैं, परन्तु उस दृष्टि के साथ में पर्याय को देखनेवाला जो ज्ञान उनको है, वह जानता है कि यह नरक पर्याय मेरी है और मैं इस समय इसमें तन्मय हूँ। वे नरक से निकल कर क्षायिक सम्यक्त्व और तीन ज्ञान के साथ माता के पेट में आनेवाले हैं, तीर्थङ्कर होनेवाले हैं। वे जानते हैं कि यह पर्याय मुझमें है और इससमय मैं उसमें तन्मय हूँ। यहाँ पर्यायार्थिक नय की बात है – यह ध्यान रखना चाहिए। द्रव्यार्थिक नय से तो द्रव्य में गति ही कहाँ है ?

कण्डे, तृण, पत्ते और काष्ठ की अग्नि के समान, द्रव्य विशेषों से तन्मय होने के कारण उन विशेषों से अनन्य है। जैसे तृण, काष्ठ इत्यादि की अग्नि उस-उस समय तृणमय, काष्ठमय आदि होने के कारण तृण, काष्ठ आदि से अनन्य है। उसीप्रकार द्रव्य उन-उन पर्यायरूप विशेषों के समय उन-उनमय (तन्मय) होने के कारण उनसे अनन्य है, भिन्न नहीं है। काष्ठ की अग्नि स्वयं काष्ठरूप परिणामी है न? इसलिए काष्ठमय है। इसीप्रकार जीव भी स्वयं उन पर्यायोंरूप – गति आदि रूप परिणमा है, इसलिए उन पर्यायों – विशेषों से अनन्य है। अहाहा ! जिसने अपनी त्रिकाली वस्तु को जाना है, उसने अपनी पर्याय को भी जाना है और वह उस काल में उस पर्याय में स्वयं तन्मय है – ऐसा जाना है। यह पर्याय कोई परद्रव्य में उत्पन्न हुई है – ऐसा नहीं है।

प्रश्न – समयसार गाथा ६५-६६ में कहा है कि जीव के चौदह भेद नामकर्म के कारण हुए हैं? नाम-कर्म कारण है और वे चौदह भेद उसके कारण हुए हैं?

उत्तर – भाई ! वहाँ अखण्ड एक शुद्ध चैतन्यमय वस्तु भगवान ज्ञायक का लक्ष्य कराना है, शुद्ध निर्मलानन्दस्वरूप प्रभु आत्मा का स्वरूप बताना है, इसलिए वे चौदह भेद आत्मा में नहीं हैं – ऐसा कहा; जबकि यहाँ उसकी पर्याय के अंश में जितना नारकपना आदि है, उसका ज्ञान कराना है; इसलिए जीवद्रव्य उनमें उस समय तन्मय है – ऐसा कहा है। मनुष्यपना अर्थात् यह शरीर नहीं, अपितु अन्दर गति की योग्यतारूप अवस्थाविशेष में उस समय जीव तन्मय है। जिस आकार की लकड़ियाँ या पत्ते होते हैं, अग्नि उसी आकारमय हो जाती है; दाह्याकार से तन्मय हो जाती है, उससे जुदी नहीं रहती। उसी प्रकार आत्मा चार गति और सिद्ध अवस्था में जिस पर्याय को प्राप्त करता है, उससे उस काल में तन्मय हो जाता है।

प्रश्न – कहीं ऐसा कथन क्यों आता है कि जिस प्रकार अग्नि तृणादिरूप परिणमित नहीं होती; उसी प्रकार आत्मा गति आदि पर्यायरूप परिणमित नहीं होता ?

उत्तर – भाई ! वह कथन द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा है, परन्तु द्रव्यदृष्टिवन्त को पर्याय का ज्ञान होने के काल में, वह पर्याय किस रूप है ? यहाँ उसका ज्ञान कराया है।

यह प्रवचनसार ज्ञानप्रधान ग्रन्थ है।

जिस प्रकार अग्नि उस-उस काल में लकड़ी, कण्डे, पत्ते इत्यादि के आकाररूप पर्याय में तन्मय है; उसीप्रकार द्रव्य उन-उन पर्यायमय अर्थात् तन्मय है; उनसे अनन्य है, भिन्न नहीं है। जैसे शरीर भिन्न है, कर्म भिन्न है, वैसे गतिरूप पर्याय भी जीव से भिन्न है – ऐसा नहीं है; बल्कि द्रव्य, पर्याय से अनन्य है अर्थात् तन्मय है। बेचारे भोले अज्ञानी जीवों ने जब ऐसा उपदेश कभी सुना भी नहीं, तो उन्हें विचार करने का अवसर कहाँ से मिलेगा ? उसे दिन-रात कमाई और स्त्री-पुत्रादि की सम्हाल से फुरसत मिले तब न ? परन्तु भाई ! यह सब तो पापभाव है। अरे, भगवान् ! यदि यह बात न समझी तो पाप की पोटली के भार से तू भवसमुद्र में डूब जाएगा।

यहाँ कहते हैं कि जिसने एक शुद्धद्रव्य को जाना है, उसे पर्याय को देखनेवाला ज्ञान भी खुला है अर्थात् स्वरूप को जानने से उसे पर्याय को जाननेवाला ज्ञान खुला है, और वह इससे जानता है कि यह विशेष – पर्याय मुझ में है, अन्य कोई चीज मुझमें नहीं तथा मैं उनमें नहीं। स्त्री-पुत्र, पैसा, बंगला इत्यादि मेरे हैं – यह सब झूठी बातें हैं,क्योंकि मैं उनमें तन्मय नहीं तथा वे वस्तुएँ मुझमें तन्मय नहीं हैं। ऐसी वस्तुस्थिति है, फिर भी अज्ञानी परपदार्थों को अपना मान बैठा है। तुझे कहाँ जाना है प्रभु ? क्या नरक निगोद में जाना है ? भाई ! दुनिया को जमे

या न जमे, वस्तुस्थिति तो यही है। जिसे अपनी आत्मा के सिवाय बाहर की चमक-दमक में जरा भी वीर्य उल्लसित हो या उसमें जरा भी 'यह ठीक है'– ऐसा लगे, वह मिथ्यादृष्टि है। उसे न तो द्रव्य का ज्ञान है, न पर्याय का, वह तो अज्ञानी है।

अपने द्रव्य और पर्याय के सिवाय परपदार्थ का चाहे जितना वैभव दिखे, उसका आत्मा के द्रव्य व गुण से तो क्या ? पर्याय से भी कोई सम्बन्ध नहीं है। तेरी पर्याय में जो गति हुई, सिर्फ उससे तेरा सम्बन्ध है और उस समय तू उसमें तन्मय है। ध्यान रहे मात्र उसी समय तन्मयता है, क्योंकि पर्याय सदा वही की वही नहीं रहती। मनुष्यगति से बदलकर एकदम देव-गति हो जाएगी, देवगति से बदलकर एकदम मनुष्यगति हो जाएगी और फिर मनुष्यगति से बदलकर एकदम सिद्धदशा हो जाएगी; इसलिए वे पर्यायें जुदी-जुदी होंगी, फिर भी उस समय तू उनसे अनन्य है। इसप्रकार अन्य-अन्य होते हुए भी अनन्य है। यहाँ तो मनुष्यादि पाँचों पर्यायों को परस्पर अन्य-अन्य कहा; परन्तु उस समय तो उनके साथ तन्मय होने से द्रव्य अनन्य है। अहो ! सन्तों ने तो अमृत की बेल बोई है। अज्ञानी यह बात समझने के लिए अभी फुरसत नहीं निकालता तो फिर समझने का उसे ऐसा अवसर कब मिलेगा ?

अरे भाई ! द्रव्य में जिससमय, जिसक्षेत्र में, जिसप्रकार जो होनेवाला है; उसीसमय, उसीक्षेत्र में, उसीप्रकार, वही अवश्य होगा; उसमें फेरफार नहीं हो सकता। परद्रव्य की पर्याय तुझे छूती भी नहीं है तो फिर तुझे किसकी चिन्ता है ? द्रव्य के स्वभाव को जानकर पर्यायार्थिक नय से पर्याय के अस्तित्व में विद्यमान पाँचों गतियों में उस-उस काल में द्रव्य स्वयं तन्मयपने है, परन्तु पर में कभी तन्मय नहीं होता – ऐसा ज्ञानी जानते हैं। मनुष्यगति की पर्याय के समय द्रव्य उससे तन्मय है,

उस समय सिद्धगति आदि नहीं है और जब सिद्धपर्याय के समय द्रव्य उससे तन्मय होगा, उस समय देवादि अन्य संसार-पर्यायों से तन्मय नहीं होगा। इसप्रकार उन-उन विशेषों के समय उन मय होने के कारण उस-उस काल में द्रव्य उनसे अनन्य है, जुदा नहीं – ऐसा ज्ञानी यथार्थ जानते हैं। पर्याय से देखने पर द्रव्य अन्य-अन्य भासित होता है, तो भी पर्याय में तन्मय होने से द्रव्य अनन्य भी है।

यहाँ तक एक आँख बन्द करके, दूसरी खुली हुई आँख द्वारा वस्तु को देखने की बात की, अब दोनों आँखों को एक साथ खोलकर देखने की बात करते हैं।

अब तीसरी बात करते हैं –

और जब उन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों आँखों को एक ही साथ खोलकर उनके द्वारा और इनके द्वारा (द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक चक्षुओं के द्वारा) देखा जाता है; तब नारकपना, तिर्यञ्चपना; मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपना – इन पर्यायों में रहनेवाला जीवसामान्य तथा जीव-सामान्य में रहनेवाले नारकपना, तिर्यञ्चपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धत्व – इन पर्यायस्वरूप विशेष; तुल्यकाल में (एक ही साथ) दिखाई देते हैं।

देखो ! यहाँ प्रमाण की बात की है। तुल्यकाल अर्थात् एक ही समय में सामान्य को जाने और विशेष को भी जाने। ध्यान रहे कि यहाँ जानने की बात है, आदर तो एक द्रव्य-सामान्य का ही है; विशेष का नहीं है। यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि ज्ञान,जैसे सामान्य को जानता है, वैसे विशेष को भी जानता है; मात्र जानने की अपेक्षा है। उपादेय तो एक शुद्ध आत्मद्रव्य ही है। विशेष (पर्याय) आश्रय करने योग्य नहीं है। यहाँ तो

प्रतिसमय द्रव्य और पर्याय का अस्तित्व किसप्रकार है – उसकी सिद्धि करते हैं ।

जब द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों चक्षुओं को एक ही साथ खोलकर देखा जाता है तब……।

देखो, यहाँ क्षयोपशमज्ञान में दोनों को जानने का उघाड़ है, इसलिए कहा है कि दोनों चक्षुओं द्वारा एक ही साथ देखने पर समान्य द्रव्य भी दिखता है और वह पर्यायों में तन्मय है – ऐसा भी दिखता है; दोनों एक साथ दिखते हैं । यहाँ जानने की अपेक्षा बात है ।

अहाहा ! जब दोनों चक्षुओं द्वारा देखा जाए, तब पाँचों पर्यायों में रहनेवाला जीवसामान्य और जीवसामान्य में रहनेवाली पाँचों पर्यायें एक साथ दिखाई देती हैं । जीवद्रव्य एक ही साथ नारकत्वादि पाँचों पर्यायों में रहता है – ऐसा नहीं है; परन्तु उस-उस समय एक-एक पर्याय में रहता है, इसप्रकार अलग-अलग समयों में पाँचों पर्यायों में रहता है –ऐसा समझना चाहिए ।

पहले द्रव्य को मुख्य और पर्याय को गौण करके सामान्य को देखने के लिए कहा था तथा पर्याय को देखते समय सामान्य द्रव्य को मुख्यपने देखना छोड़ दिया था, लेकिन अब दोनों को एकसाथ देखने के लिए यह प्रमाणज्ञान कहा है । पर को देखने की यहाँ बात ही नहीं की, क्योंकि उसका यहाँ प्रश्न ही नहीं है । पर को जाननेवाली पर्याय अपनी है; पर की नहीं, पर के कारण भी नहीं । पर को जानती है, इसलिए वह पर्याय पर के कारण हुई है – ऐसा नहीं है । भाई ! यह तो मात्र अपने द्रव्य और पर्याय के सिवाय अनन्त परद्रव्य और उनकी पर्यायों में गर्व (ममत्व और कर्त्तृत्व) को उठा लेने की बात है । यदि पर में जरा भी गर्व रहा तो आत्मा की मृत्यु ही समझो ।

भगवान् ! तू त्रिकाली सामान्यद्रव्य है और पाँचों पर्यायें तेरी विशेष हैं, उन पर्यायों के काल में तू उनमें तन्मय है। पाँचों पर्यायों में एक साथ नहीं, अपितु उस-उस गति के काल में ही उसमें तन्मय है। इसप्रकार पर्याय-अपेक्षा अन्य-अन्य होते हुए भी द्रव्य अपेक्षा अनन्य है, परन्तु परद्रव्य के साथ कभी भी अनन्य नहीं है। एक गति की पर्याय के समय दूसरी गति नहीं होती, इसलिए द्रव्य अन्य-अन्य है; परन्तु उस पर्याय से अनन्य है। द्रव्य अन्य द्रव्यों के साथ त्रिकाल में एकसमय भी अनन्य नहीं होता।

देखो ! यह पुस्तक और इसके पन्ने, सब अन्य द्रव्य की पर्यायें हैं, वास्तव में इनका जानना भी कहाँ है ? क्योंकि उन्हें जानने के काल में तो तू अपनी ज्ञानपर्याय में तन्मय है, उन पदार्थों में नहीं। शास्त्रादि को जाननेवाली ज्ञानपर्याय भी कहीं उनमें (शास्त्रादि में) तन्मय नहीं हो जाती। दूसरे समय विशेष ज्ञात हुआ तो उस काल में भी वह ज्ञान पर के साथ तन्मय नहीं है। पर्यायें अन्य-अन्य हैं, इसलिए पर्याय की अपेक्षा द्रव्य अन्य-अन्य है; परन्तु द्रव्य की अपेक्षा अनन्य है, क्योंकि पर्याय द्रव्य से कोई जुदी चीज नहीं है। भाई ! परद्रव्य और उसकी पर्याय तो स्वद्रव्य और अपनी पर्याय से बिलकुल भिन्न है। अहाहा ! जिस शरीर के साथ पचास-पचास या सौ-सौ वर्ष बिताए हैं – ऐसे शरीर के साथ भी आत्मा एकसमय के लिए भी तन्मय नहीं हुआ। जबकि पर्यायदृष्टि से देखने पर अपनी पर्यायें अन्य-अन्य होते हुए भी उनमें वर्त्तता होने के कारण द्रव्य उनसे अनन्य है।

अब कहते हैं कि **एक आँख से देखना, एकदेश अवलोकन है और दोनों आँखों से देखना, सर्वावलोकन (सम्पूर्ण अवलोकन) है; इसलिए सर्वावलोकन में द्रव्य के अन्यत्व और अनन्यत्व विरोध को प्राप्त नहीं होते।**

देखो ! एक चक्षु द्वारा देखने पर एकदेश – एक भाग का ज्ञान होता है और दोनों आँखों से देखने पर सम्पूर्ण ज्ञान होता है । यह बात जानने को अपेक्षा है । आदरणीय क्या है ? यह बात यहाँ नही है, क्योंकि आदरणीय तो क्षायिकभाव भी नहीं है ।

प्रश्न – नियमसार, गाथा ५० में तो क्षायिकभाव को भी परद्रव्य, परभाव और हेय कहा है; जबकि यहाँ कहते हैं कि द्रव्य, गति के उदयभाव में भी तन्मय है – यह कैसी बात है ?

उत्तर – भाई ! नियमसार में वहाँ उपादेयरूप शुद्ध अन्त:तत्त्व, एक, शुद्ध, ज्ञायकभाव का लक्ष्य कराने का प्रयोजन है और यहाँ जिसे अन्त:तत्त्व का भान हुआ है, उसके द्रव्य-पर्याय का प्रतिसमय अस्तित्व कैसा है – यह बताने का प्रयोजन है । यहाँ ज्ञानप्रधान शैली है । बापू ! इस ग्रन्थ की एक-एक गाथा खूब गंभीरता से भरी हुई है । कोई ऊपर-ऊपर से पढ़ ले तो वह इसका मर्म कैसे समझेगा ?

अब कहते हैं कि **सर्व-अवलोकन में द्रव्य के अन्यत्व और अनन्यत्व विरोध को प्राप्त नहीं होते ।**

द्रव्य का अन्यत्व अर्थात् भिन्न-भिन्न पर्यायपना और अनन्यत्व अर्थात् वर्तमान अपेक्षा पर्याय से द्रव्य की अभिन्नता; इन दोनों में कोई विरोध नहीं आता । जो गतिरूप पर्याय है, वह अपने-अपने समय में एक-एक है; इसलिए अन्य-अन्य है । संसार की चार गतियों के काल में सिद्धत्व नहीं है तथा सिद्धत्व के काल में ससार की चार गतियाँ नहीं है – इस अपेक्षा से द्रव्य को अन्यत्व है और आत्मा उनमें उस-उस समय तन्मय है, इसलिए अनन्यत्व भी है । इसप्रकार सर्व-अवलोकन में द्रव्य के अन्यत्व और अनन्यत्व में विरोध नहीं आता ।

सारे दिन स्त्री-पुत्र की सम्हाल में लगे रहनेवाले जगत को, ऐसी सूक्ष्म बात कैसे समझ में आ सकती है। अरे रे! जिसे तत्त्व सुनने की भी फुरसत नहीं है,वह कहाँ जाएगा? बहुत से जीवों को धर्म तो दूर, पुण्य का भी ठिकाना नहीं है – ऐसे जीव तो मरकर तिर्यञ्च गति में जाएँगे। यहाँ तो जीव को पर के सम्बन्ध से सर्वथा भिन्न बताया है, फिर भी यह पर की व्यवस्था में अटक रहा है। भगवान्! स्त्री, पुत्र, मकान, गहने, कपड़े, शरीर, इज्जत – ये सब अपने-अपने में हैं, इनसे तेरा कोई सम्बन्ध नहीं है; फिर भी प्रभु! तू इनमें रुक गया है, तूने अपने को नहीं देखा, अपने द्रव्य-पर्याय का स्वरूप नहीं जाना। यहाँ तो तेरे द्रव्य-पर्याय का ही स्वरूप बताया गया है।

भावार्थ पर प्रवचन

प्रत्येक द्रव्य सामान्य-विशेषात्मक है, इसलिए प्रत्येक द्रव्य वैसा का वैसा भी रहता है और बदलता भी है।

प्रत्येक द्रव्य सामान्य-विशेषात्मक है, अर्थात् द्रव्य में जो विशेषपना भासित होता है, वह उसका स्वरूप है। विशेष कोई परद्रव्य के कारण होता है – ऐसा नहीं है। प्रत्येक द्रव्य सामान्य-विशेष स्वरूप है। सामान्य तो ध्रुव है और विशेष में परिवर्तन होता है। विशेष में जो परिवर्तन होता है, उसमें पर की अपेक्षा नहीं है; क्योंकि परिवर्तन होना पर्याय का स्वभाव है, इसलिए स्वद्रव्य की पर्याय में किसी अन्य द्रव्य की अपेक्षा है ही नहीं। सम्पूर्ण विश्व में अनन्त-अनन्त द्रव्य सामान्य-विशेषपने विराज रहे हैं, इसलिए उन्हें अपने विशेष के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है। उनकी अवस्थाओं को किसी काल या किसी क्षेत्र में पर की अपेक्षा नहीं है। प्रत्येक द्रव्य की अवस्था अपने काल में स्वतन्त्र हो – ऐसा ही उसका सामान्य-विशेष स्वरूप है।

प्रत्येक द्रव्य सामान्यपने—ध्रुवपने रहता है, उसमें बदलाव नहीं है, अर्थात् वैसा का वैसा ही रहता है तथा विशेषपने बदलता भी है। अहाहा ! पलटना तो उसकी पर्याय का स्वभाव ही है, इसलिए पर्याय किसी अन्य के कारण पलटती है – ऐसा तीनकाल में भी नहीं है। जीव या पुद्गल किसी भी द्रव्य का नरक-निगोद या स्कन्धरूप किसी भी पर्यायरूप होना, उसका स्वभाव है; इसलिए यदि वह विशेष किसी पर के कारण उत्पन्न होता हुआ लगे तो वह दृष्टि विपरीत है। यह बात अज्ञानी के गले उतरना मुश्किल है, परन्तु क्या करें ? वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। ये शब्द तो सादे हैं, परन्तु भाव बहुत गम्भीर है।

अहाहा ! वस्तु का अस्तित्व अनन्त परपदार्थों से भिन्न है। आकाश के एक प्रदेश में रहते हुए भी छहों द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं। जीव असंख्यात प्रदेशी है; इसलिए एक जीव आकाश के एक प्रदेश में नहीं रह सकता, असंख्यात प्रदेशों में रहता है। फिर भी यहाँ ऐसा कहते हैं कि जीव अपने असंख्यात प्रदेशों में रहता है, उसे आकाश के प्रदेशों की अपेक्षा नहीं है। वास्तव में तो जीव के प्रदेश आकाश के प्रदेशों को छूते भी नहीं हैं।

प्रश्न – आकाश न हो तो सभी द्रव्य कहाँ रहेंगे ? छहों द्रव्य आकाश में रहते हैं – ऐसा कथन तो आता है न ?

उत्तर – भाई ! यह तो निमित्त की कथनी है। ऐसा कथन भी तो आता है कि यदि आकाश परद्रव्यों का आधार हो तो आकाश का आधार कौन है ? तथा प्रत्येक द्रव्य के परिणमन में काल का निमित्त है ? भाई ! जब निमित्त की सिद्धि करना हो तब ऐसा कहा जाता है कि आकाश न हो तो सभी द्रव्य कहाँ रहेंगे ? परन्तु इससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य की पर्याय में कोई भी परिवर्तन कर सकता है, क्योंकि ऐसा वस्तु-स्वरूप ही नहीं है।

चौदह ब्रह्मांड में अनन्त द्रव्य हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने से ही सामान्य-विशेषपने रहता है। अक्रिय, ध्रुवरूप, सामान्य को तो पर की अपेक्षा नहीं है; परन्तु जिसमें अनेक भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होती हैं – ऐसे विशेष को भी पर की अपेक्षा नहीं है। विशेष भी द्रव्य का सहजस्वरूप ही है। जो पलटना होता है, वह उसका स्वयं का स्वभाव हो है। विशेषपना पर के कारण हो – ऐसा वस्तुस्वरूप ही नहीं है। आत्मा को अपने सामान्य और विशेष के लिए किसी भी परद्रव्य की – यहाँ तक कि तीर्थङ्कर की भी अपेक्षा नहीं है।

प्रश्न – शास्त्र में तो आता है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति सद्गुरु के चरण-कमलों के प्रसाद से होती है ?

उत्तर – हाँ, ऐसी भाषा तो बहुत आती है, परन्तु यह कथन तो सम्यग्दर्शन के काल में कैसा निमित्त होता है – यह बताने के लिए किया जाता है। आत्मा ध्रुव सामान्यरूप है और सम्यग्दर्शन उसका विशेष है, पर्याय है। वह विशेष आत्मा का ही स्वरूप है, इसलिए वह किसी पर की अपेक्षा नहीं हुआ है। गुरु के प्रसाद से या दर्शनमोह के अभाव से सम्यग्दर्शन पर्याय हुई हो – ऐसा नहीं है। यदि ऐसा हो तो वहाँ द्रव्य के विशेष की – पर्याय की अपनी स्वयं की सामर्थ्य का अभाव होगा।

तत्त्वार्थसूत्र में आता है – 'तद्भावः परिणामः' अर्थात् परिणाम द्रव्य का स्वभाव है; इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव अपने सामान्य और विशेष के अतिरिक्त परपदार्थों से अत्यन्त उदास है। किसी परपदार्थ की अपेक्षा मुझ में कुछ फेर पड़ जाएगा या मेरे कारण पर में कुछ फेर पड़ जाएगा – ऐसी दृष्टि (मान्यता) सम्यग्दृष्टि की नहीं है। भाई ! बात तो थोड़ी है, परन्तु उसकी गम्भीरता अपार है।

देखो ! पर्याय को देखनेवाली आँख बन्द करके द्रव्य को देखनेवाली आँख खोले तो एक द्रव्यसामान्य ही ज्ञात होता है, इसलिए द्रव्य अनन्य अर्थात् वही का वही का वही भासित होता है।

और पर्यायार्थिकनयरूपी दूसरी चक्षु से देखने परद्रव्य के पर्यायरूप विशेष ज्ञात होते हैं, इसलिए द्रव्य अन्य-अन्य भासित होता है।

पर्यायों में तो बहुत अन्तर दिखाई देता है। कहाँ मारीचि की मिथ्यादर्शनरूप अवस्था और कहाँ भगवान महावीर की तीर्थङ्कर केवलीरूप अवस्था ? पूर्व-पश्चिम का अन्तर है। कहाँ निगोद में अक्षर के अनन्तवें भागरूप ज्ञानपर्याय और कहाँ वहाँ से निकलकर मनुष्य होकर आठ वर्ष में ही प्राप्त होनेवाली केवलज्ञान पर्याय ? उन पर्यायों में जीवसामान्य तो वही है (एक ही है), परन्तु विशेष की अपेक्षा से अन्यपना भासित होता है, अन्तर भासित होता है।

निगोद में अक्षर के अनन्तवें भाग ज्ञान का उघाड़ है। वहाँ भी शुभभाव होता है, इसलिए कोई जीव वहाँ से निकल कर मनुष्य भी होता है। इस मनुष्य पर्याय में आठ वर्ष की उम्र में भी पूर्ण सामर्थ्य से भरे हुए भगवान आत्मा की दृष्टि करके, उसमें ही ठहरकर यह जीव केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। देखो, कहाँ निगोद में अक्षर के अनन्तवें भागरूप ज्ञान और कहाँ मनुष्यपने में केवलज्ञान – एकदम इतना अन्तर ! वीतराग का मार्ग अचिन्त्य और अलौकिक है; परन्तु लोगों ने दया, दान, प्रतिक्रमण, सामायिक, उपवास आदि क्रियाकाण्ड में धर्म मान लिया है। बाह्यव्रत में संवर और तप-उपवास में निर्जरा मान ली है। अरे रे, प्रभु ! तूने क्या मान रखा है ? भगवान के द्वारा कहे हुए अलौकिक द्रव्य और पर्याय – दोनों

की तुझे खबर नहीं है। यहाँ कहते हैं कि भले पर्याय में अन्तर मालूम पड़ता है, इसलिए अन्यपना भासित हो; परन्तु उन पर्यायों में द्रव्य तो वही का वही है, इसलिए द्रव्य की अपेक्षा तो अनन्यपना है।

कोई अरबपति यहाँ गादी पर बैठा हो, पच्चीस-पचास नौकर हों, सब लोग सलाम करते हों, परन्तु आयु पूरी हो जाए तो मर कर नरक जाए। देखो ! यहाँ पर्याय अपेक्षा अन्यपना है। क्षण में दूसरी पर्याय और क्षण में दूसरी पर्याय – इसप्रकार भिन्न-भिन्न पर्यायें हैं। हैं, परन्तु वे पर्यायें आत्मा से भिन्न हैं – ऐसा नहीं है। आत्मा से तो वे अनन्य ही हैं, क्योंकि उनमें आत्मा ही वर्त्तता है। पर्याय से देखो तो द्रव्य अन्य-अन्य भासित होता है, परन्तु द्रव्य से देखने पर तो वह अनन्य है; क्योंकि पर्याय, द्रव्य से भिन्न नहीं है तथा द्रव्य, पर्याय से भिन्न नहीं है।

अब कहते हैं कि **दोनों नयरूपी दोनों चक्षुओं से देखने पर द्रव्यसामान्य और द्रव्य के विशेष दोनों ज्ञात होते हैं; इसलिए द्रव्य अनन्य तथा अन्य-अन्य दोनों भासित होता है**

वस्तु स्वयं त्रिकाल ध्रुवरूप भी है और वर्त्तमानपर्याय-रूप भी है – इसकार दोनों भासित होते हैं। द्रव्य-पर्याय का ऐसा स्वरूप समझने की फुरसत न निकाले तो मनुष्यपना व्यर्थ चला जाएगा, क्योंकि मनुष्यत्व का जितना काल निश्चित है, उतना ही है। यदि द्रव्य की सामान्य-विशेष शक्तियों का ज्ञान नहीं किया, और पर के कारण मुझमें कुछ फेरफार होता है तथा मेरे कारण पर में कुछ फेरफार होता है – ऐसा मानकर प्रवर्त्तन किया तो प्रभु ! तेरा परिभ्रमण नहीं मिटेगा, विपरीत दृष्टि के कारण तेरा भव-भ्रमण का चक्र नहीं मिटेगा; इसलिए द्रव्य-पर्याय का यथार्थ निर्णय करके द्रव्यसामान्य का आश्रय ले और उसमें लीनता कर, तो तुझे सिद्धपर्यायरूप विशेष प्रगट होगा।

सयमसारकलश २७१ : बालबोधिनी टीका

(पाण्डे राजमलजी कृत)

(शालिनी)

योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्रः स नैव ।
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन्
ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः ॥२७१॥

श्लोकार्थ – जो यह मैं ज्ञानमात्र भाव हूँ, वह ज्ञेयों का ज्ञानमात्र ही नहीं जानना चाहिए; परन्तु ज्ञेयों के आकार से होने वाले ज्ञान की कल्लोलों के रूप में परिणमित होता हुआ वह ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातामय वस्तु मात्र जानना चाहिए। (अर्थात् स्वयं ही ज्ञान, स्वयं ही ज्ञेय, स्वयं ही ज्ञाता – इसप्रकार ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातारूप) तीनों भाव युक्त वस्तुमात्र जानना चाहिए।[1]

खण्डान्वय सहित अर्थ – भावार्थ इसप्रकार है कि ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध के ऊपर बहुत भ्रान्ति चलती है सो कोई ऐसा समझेगा कि जीव वस्तु ज्ञायक, पुद्गल से लेकर भिन्न रूप छह द्रव्य ज्ञेय हैं। सो ऐसा तो नहीं है। जैसा इस समय कहते हैं उस प्रकार है – "अहं अयं यः ज्ञानमात्रः भावः अस्मि" [**अहं**] मैं [**अयं यः**] जो कोई [**ज्ञानमात्रःभावः अस्मि**] चेतना सर्वस्व ऐसा वस्तुस्वरूप हूँ "सः ज्ञेय न एव" वह मैं ज्ञेयरूप हूँ, परन्तु ऐसा ज्ञेयरूप नहीं हूँ – "ज्ञेयः ज्ञानमात्रः" [**ज्ञेयः**] अपने जीव से भिन्न छह द्रव्यों के समूह का [**ज्ञानमात्रः**] जानपना मात्र। भावार्थ इसप्रकार है कि मैं ज्ञायक समस्त छह द्रव्य मेरे ज्ञेय ऐसा तो नहीं है। तो कैसा है? ऐसा है – "ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः ज्ञेयः" [**ज्ञान**] जानपनारूप शक्ति [**ज्ञेय**] जानने योग्य शक्ति [**ज्ञातृ**] अनेक शक्ति विराजमान वस्तुमात्र, ऐसे तीन भेद

---

१. समयसार, प्रकाशक–पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट द्वारा उद्धृत।

कलश टीका पर प्रवचन

"भावार्थ इसप्रकार है कि" – देखा ? कलश का अर्थ करने से पहले अर्थात् उसमें क्या कहना है, यह स्पष्ट करने से पहले ही भावार्थ लिया है। देखो, ऐसा प्रारम्भ किया है कि –

"ज्ञेय-ज्ञायक संबंध के ऊपर बहुत भ्रांति चलती है।" भाई ! परज्ञेय तो व्यवहार से ज्ञेय है, वास्तव में निश्चय से तो अपनी ज्ञान की दशा में जो छह द्रव्यों का ज्ञान होता है वही अपना ज्ञेय है, वही अपना ज्ञान है और स्वयं आत्मा ही ज्ञाता है।

यह तो पहले कहा है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव (चारों ही) वह का वही है। अर्थात् सब एक ही हैं। द्रव्य भी वही है, क्षेत्र भी वही है, काल भी वही है और भाव भी वही है, परन्तु द्रव्य भिन्न है, क्षेत्र भिन्न है, काल भिन्न है और भाव भिन्न है – ऐसा नहीं है।

अहाहा ! अनन्त गुणों का वास्तु (निवास स्थान) जो वस्तु अर्थात् द्रव्य है वह द्रव्य ही असंख्य प्रदेशी क्षेत्र है, वही त्रिकाल (काल) है और वही भाव है। जैसे – कैरी (कच्चे आम) में स्पर्श-रस-गंध-वर्ण कैरी से भिन्न नहीं हैं, परन्तु स्पर्श कहो तो भी वही है, रस कहो तो भी वही है, गंध कहो तो भी वही है और वर्ण कहो तो भी वही है। वैसे ही अनंत गुणों के पिण्डस्वरूप शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा का जो द्रव्य है, वही असंख्यप्रदेशी क्षेत्र है। और जो असंख्यप्रदेशी क्षेत्र है, वही द्रव्य है। तथा जो असंख्य प्रदेशी क्षेत्र है वही त्रिकाल (काल) है और जो त्रिकाल है वही भाव है। इसप्रकार द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव इन चारों का भेद निकालकर निश्चय से सब अभेद है – ऐसा वस्तु का वास्तविक स्वरूप कहा है। यह बात बहुत सूक्ष्म है, पर सत्य तो सूक्ष्म ही होता है न ?

अहाहा ! दृष्टि का विषय तो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की एकतारूप चित्स्वभाव है, उसमें चार भेद नहीं हैं। जो द्रव्य है वही परम-पारिणामिक भाव है। जो क्षेत्र है वही परम-पारिणामिकभाव है, त्रिकाल वस्तु भी परम-पारिणामिक भाव है और जो अनतस्वभावभाव है वह भी परम-पारिणामिक भाव है, इसलिए वे चारों ही एक ही चीज हैं, वे शुद्ध चित्स्वरूप से भिन्न-भिन्न चीज नहीं हैं। ऐसी अभेद एक शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु ही सम्यग्दर्शन का विषय है। बाह्य निमित्त तो सम्यग्दर्शन का विषय नहीं, व्यवहार का राग भी उसका विषय नहीं और अपने समय में प्रगट हुई निर्मल निर्विकारी पर्याय भी सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। अहो ! सम्यग्दर्शन और इसका विषय ऐसी परम अद्भुत अलौकिक वस्तु है।

यहाँ कहते हैं – परद्रव्य ज्ञेय और भगवान आत्मा ज्ञायक – ऐसा ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध मानना भ्रांति है, अर्थात् वास्तव में ऐसा ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में तो ज्ञान अर्थात् जानपनेरूप शक्ति, ज्ञेय अर्थात् जो जानने में आता है वह, और ज्ञाता अर्थात् अनन्त गुणों के पिण्डरूप वस्तु, ये सब सब एक वस्तु हैं।

"ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध के ऊपर बहुत भ्रान्ति चलती है, इसलिये कोई ऐसा समझेगा कि जीव-वस्तु ज्ञायक, पुद्गल से लेकर भिन्नरूप छह द्रव्य ज्ञेय हैं। तो ऐसा तो नहीं है।"

देखो, यहाँ छह द्रव्य कहे उसमें अनन्त केवली भगवन्त आ गए, अनन्त सिद्ध भगवान आ गए, पंचपरमेष्ठी आ गए और निगोद के अनन्त जीवों सहित सर्व संसारी जीव आ गए। आत्मा ज्ञायक है तथा अरहंतादि पंचपरमेष्ठी और अन्य जीव इसके ज्ञेय हैं – ऐसा नहीं है। गजब बात है भाई ! ये तो ज्ञेय-ज्ञायक का व्यवहार सम्बन्ध छुड़ाकर भेदज्ञान कराने की बात है। समझ में आया ?

जाननस्वभावी भगवान आत्मा ज्ञायक है और अनंत केवली, सिद्ध और संसारी जीव इसके ज्ञेय हैं – ऐसा नहीं है। तथा जीव-वस्तु ज्ञायक है और एक परमाणु से लेकर अचेतन महास्कंध पर्यन्त सभी स्कन्ध और कर्म आदि इसके ज्ञेय हैं – ऐसा भी नहीं है। जैनतत्त्व बहुत सूक्ष्म है भाई! धर्मात्मा को व्यवहार रत्नत्रय का राग होता है परन्तु आत्मा ज्ञायक है और व्यवहार रत्नत्रय का राग इसका ज्ञेय है – ऐसा नहीं है। समयसार की बारहवीं गाथा में कहा है कि व्यवहार (राग) जाना हुआ प्रयोजनवान है, पर वहाँ इसे 'जाना हुआ' कहा, यह भी व्यवहार है, क्योंकि वास्तव में तो ज्ञान, पर्याय को जानता है और पर्याय ही अपना ज्ञेय है। राग को ज्ञेय कहना तो व्यवहार है।

देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग, नवतत्त्व की भेदवाली श्रद्धा का राग और पचमहाव्रत के आचरण का राग, जो कि छह द्रव्यों में आ जाता है, वह अपना स्वभाव तो नहीं, पर वास्तव में अपना ज्ञेय भी नहीं है, वह पर वस्तु है। यह शरीर और उसके रोग, वार्धक्य आदि जो अनेक अवस्थायें होती हैं तथा स्त्री-कुटुम्ब-परिवार, देव-शास्त्र-गुरु, धन-सम्पत्ति इत्यादि परद्रव्य भगवान ज्ञायक में तो नहीं, परन्तु ये परद्रव्य ज्ञेय हैं, प्रमेय हैं और भगवान आत्मा ज्ञाता है, प्रमाता है – ऐसा भी नहीं है। भाई! यह तो (उपयोग को) सब तरफ से संकोच करने की बात है। यह कठिन काम है भाई! क्योंकि अनन्तकाल से यह काम किया नहीं, परन्तु इसके बिना भव का अंत नहीं आयेगा।

अहाहा! जीववस्तु ज्ञायक है और पुद्गल आदि छह द्रव्य इसके ज्ञेय हैं – ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं, क्योंकि छह द्रव्य जिस ज्ञान में प्रतिभासित होते हैं वह ज्ञान पर्याय उन-उन ज्ञेयों के कारण नहीं हुई है, परन्तु वह स्व-पर को प्रकाशती हुई स्वयं

अपने सामर्थ्य से प्रगट हुई है। इसलिये अपनी ज्ञान की पर्याय ही अपना ज्ञय है।

अब कहते हैं – "जैसे अब कहा जाता है वैसा है – "अहम् अयं यः ज्ञानमात्रः भावः अस्मि" मैं जो कोई चेतना सर्वस्व ऐसा वस्तुस्वरूप हूँ "सः ज्ञेयः" वह मैं ज्ञेय रूप हूँ।"

अहाहा ! देखा क्या कहा ? मैं जानने-देखनेरूप चेतना जिसका सर्वस्व है, ऐसा वस्तुस्वरूप हूँ और मैं स्वयं ज्ञेयरूप हूँ परंतु मुझे छह द्रव्यों का ज्ञेयपना है अर्थात् छह द्रव्य मेरे ज्ञेय हैं – ऐसा नहीं है अपितु मेरी ज्ञान पर्याय ही मुझमें ज्ञेय रूप है। अहा ! इन अन्तिम कलशों में बहुत सूक्ष्म गम्भीर बातें की हैं। यहाँ कहा जा रहा है कि केवली भगवान लोकालोक को जानते हैं – ऐसा नहीं है।

प्रश्न – क्या भगवान लोकालोक को नहीं जानते ? आत्मा ज्ञायक है तो छह द्रव्य इसके ज्ञेय हैं या नहीं ? छह द्रव्य केवलज्ञान के ज्ञेय हैं या नहीं ? निश्चय से नहीं, परन्तु व्यवहार से तो हैं।

उत्तर – अरे भाई ! "व्यवहार से हैं" इसका अर्थ क्या ? यही कि – ऐसा नहीं है। अपने में – अपनी ज्ञान पर्याय में लोकालोक का ज्ञान अपने कारण से होता है, वह ज्ञान-पर्याय अपना ज्ञेय है, परन्तु लोकालोक ज्ञेय नहीं है। बहुत सूक्ष्म बात है। यह तो धैर्यवालों का काम है बापू ! यह कहीं जल्दबाजी से प्राप्त होनेवाली वस्तु नहीं है।

"सः ज्ञेयः न एव" मैं जो कोई चेतनासर्वस्व – ऐसा वस्तुस्वरूप हूँ, वह मैं ज्ञेयरूप हूँ, परन्तु ऐसा ज्ञेयरूप नहीं; कैसा ज्ञेयरूप नहीं ? "ज्ञेयः ज्ञानमात्रः" अपने जीव से भिन्न छह द्रव्यों के समूह के जानपनेमात्र। भावार्थ इसप्रकार है कि – मैं ज्ञायक और समस्त छह द्रव्य मेरे ज्ञेय – ऐसा तो नहीं है।

देखो, यह क्या कहा ? कि मैं चैतन्यमात्र भगवान ज्ञायक से भिन्न छह द्रव्यों के जानपनेमात्र नहीं हूँ, मैं तो अपनी ज्ञान की पर्याय को ज्ञेय बनाकर जाननेवाला हूँ। व्यवहार-दया, दान, व्रत आदि का राग ज्ञेय और आत्मा ज्ञायक – जब ऐसा भी नहीं है तो व्यवहार करते-करते निश्चय होता है – ये बात कहाँ रही प्रभु !

प्रश्न – परन्तु आपने ऐसा अर्थ कैसे निकाला ?

उत्तर – बापू ! तू धंधे में जमा-नामे का हिसाब कैसे निकालता है ? तुझे इसकी रुचि है न ? अर्थात् वहाँ फटाक-फटाक कह देता है कि इसके पास इतना और उसके पास इतना बाकी है। इसमें होशियार हो गया है। दूसरे गाँव में उधारी वसूल करने जाये और पचास हजार या लाख रुपया ले आये तो हर्ष करता है और मानता है कि मैं इतना पैसा ले आया। परन्तु बापू ! ये पैसा तेरा कहाँ है ? और क्या तू इसे ला सकता है ? लाना तो दूर रहा, पैसा आना मेरा ज्ञेय है और मैं ज्ञायक हूँ – ऐसा भी नहीं है। अहाहा ! जाननेवाली पर्याय मेरी है इसलिये मैं ही ज्ञेय हूँ, मैं ही ज्ञान हूँ और मैं ही ज्ञायक हूँ, ज्ञायक ऐसे मुझ में पर का ज्ञेयपना है ही नहीं।

तत्त्वदृष्टि बहुत सूक्ष्म है भाई ! अरे ! अनंतकाल से इसने पर का – निमित्त का, राग का और पर्याय का अभ्यास किया है, इन्हें अपना ज्ञेय माना है; परन्तु मैं ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय सभी एक हूँ – ऐसा अन्तर्मुख होकर अभेद का अभ्यास नहीं किया। परन्तु बापू ! जन्म-मरण रहित होने वाली चीज तो अन्तः पुरुषार्थ से ही प्राप्त होती है।

यह शास्त्र ज्ञेय है और मैं उसे जाननेवाला ज्ञायक हूँ ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है क्योंकि मेरी ज्ञान-पर्याय में जैसा शास्त्र है वैसा ही ज्ञात हुआ है, तो भी वह ज्ञान, ज्ञेय के – शास्त्र के

कारण नहीं हुआ परन्तु मेरी ज्ञान की पर्याय स्वयं स्वतः निज सामर्थ्य से ही उसरूप – जाननेरूप परिणमित हुई है। उसे पर से – शास्त्र से क्या संबंध है ? उसे पर के साथ तो ज्ञेय-ज्ञायक संबंध भी नहीं। (तो फिर शास्त्र से ज्ञान हुआ यह बात तो कहीं दूर ही रही)

प्रश्न – परन्तु पर-द्रव्य के साथ आत्मा का ज्ञेय-ज्ञायक संबंध है – ऐसा कहा गया है न ?

उत्तर – यह सम्बन्ध तो व्यवहार से कहा है। निश्चय से तो छहों द्रव्यों का ज्ञान मेरी पर्याय में मेरे से हुआ है, छह द्रव्यों की मौजूदगी के कारण से मेरा ज्ञान नहीं हुआ है, पर मेरी पर्याय की ताकत से यह ज्ञान हुआ है। भाई ! ये तो भगवान की वाणी में से निकला हुआ अमृत है। अहो ! दिगम्बर सन्तों ने जगत के समक्ष ऐसी सूक्ष्म बात कहकर परमामृत पिलाया है। ऐसी बात अन्यत्र कहीं नहीं है।

अहा ! छह द्रव्यों का जो ज्ञान हुआ है, वह ज्ञान मेरा ज्ञेय है, छह द्रव्य मेरे ज्ञेय नहीं। छह द्रव्यों के जानने मात्र रूप में नहीं।

प्रश्न – ज्ञान की पर्याय तो पर ज्ञेय के कारण हुई है; अर्थात् ज्ञेय है इसलिए ज्ञान हुआ है न ?

समाधान – ऐसा नहीं है, यह ज्ञान तो अपनी पर्याय की सामर्थ्य से ही हुआ है और इसलिए अपनी पर्याय ही अपना ज्ञेय है। बारहवीं गाथा में व्यवहार जाना हुआ प्रयोजयवान कहा है, पर इसका अर्थ ऐसा है कि उस-उस प्रकार की ज्ञान की पर्याय स्वय अपने से होती है। व्यवहार का जो राग है, उस जैसा ही उसका ज्ञान अपनी पर्याय में अपने से ही उत्पन्न होता है। ज्ञान का ऐसा ही कोई स्व-पर प्रकाशक स्वभाव है, इसे किसी पर-पदार्थ की अपेक्षा नहीं है। इसलिए अपनी पर्याय

ही अपना ज्ञेय है, परन्तु व्यवहार का राग ज्ञेय नहीं है। यह तो धैर्यवान पुरुष का काम है बापू! भगवान की वाणी को समझने के लिए भी धीरज चाहिए। जल्दबाजी से कहीं आम नहीं पकते।

अपनी पर्याय में छह द्रव्य जानने में तो आते हैं, परन्तु वे छह द्रव्य हैं, इसलिए ज्ञान हुआ है – ऐसा नहीं है। अपने ज्ञान की पर्याय ही स्वतः ऐसी प्रगट हुई है और वह पर्याय ही अपना ज्ञेय है। देखो कलश में है कि "अपने जीव से भिन्न छह द्रव्यों के समूह का जाननेमात्र" मैं नहीं। अर्थात् मेरी पर्याय का जाननेमात्र ही मैं हूँ, क्योंकि सर्वस्व मेरे में ही है।

इसके भावार्थ में कहा है – "**भावार्थ इसप्रकार है कि मैं ज्ञायक और समस्त छह द्रव्य मेरे ज्ञेय – ऐसा तो नहीं।**" अहाहा! भगवान पंचपरमेष्ठी मेरे तो नहीं पर मेरे ज्ञेय भी नहीं, क्योंकि यहाँ (अपनी पर्याय में) पंचपरमेष्ठी संबंधी जो ज्ञान हुआ है वह उनसे नहीं हुआ, परन्तु पर्याय की तत्कालीन योग्यता से – सामर्थ्य से हुआ है। इसलिये अपनी पर्याय ही अपना वास्तविक ज्ञेय है। इसप्रकार बाहर में से दृष्टि अन्दर संकुचित कर ली है। फिर अपने में से ज्ञेय-ज्ञान-ज्ञाता के तीन भेद भी निकाल देंगे। यहाँ तो पहले पर-पदार्थ ज्ञेय है और मैं ज्ञायक हूँ – ऐसी भ्रान्ति दूर की है। फिर ज्ञाता ही ज्ञाता है, है, ज्ञाता ही ज्ञान है और ज्ञाता ही ज्ञेय है – ऐसा कहेंगे। अहो! सन्तों ने मारग एकदम खोल दिया है। वाह सन्तों वाह!

मैं ज्ञायक हूँ और समस्त छह द्रव्य मेरे ज्ञेय हैं – ऐसा नहीं है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल और परमाणु से लेकर महास्कन्ध, तथा कर्म आदि मेरे ज्ञेय हैं और मैं ज्ञायक हूँ – ऐसा नहीं है। अहा! कर्म मेरे हैं, मुझमें हैं ऐसा तो नहीं, परन्तु कर्म मेरा ज्ञेय है और मैं ज्ञायक हूँ ऐसा भी

नहीं है। अज्ञानी पुकार करते हैं कि कर्म से ऐसा होता है और कर्म से वैसा होता है, पर अरे! सुन तो नाथ! कर्म तो तुझे छूता भी नहीं है। वास्तव में तेरे ज्ञान की सामर्थ्य ही ऐसी है कि उसमें पर की अपेक्षा ही नहीं है।

"छह द्रव्य मेरे ज्ञेय – ऐसा तो नहीं, तो कैसा है? ऐसा है – "ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः ज्ञेयः" ज्ञान अर्थात् जानन-पने शक्ति, ज्ञेय अर्थात् जानने-योग्य शक्ति, ज्ञाता अर्थात् अनेक शक्तिरूप विराजमान वस्तुमात्र – ऐसे तीन भेद मेरा स्वरूप मात्र हैं ऐसा ज्ञेयरूप हूँ।"

क्या कहते हैं? कि जानपने की शक्तिरूप मैं, जानने-योग्य शक्तिरूप भी मैं और अनन्त शक्तिरूप वस्तु अर्थात् ज्ञाता भी मैं हूँ। अहाहा! अनंतगुणनिधान प्रभु आत्मा में एक जान-पनेरूप शक्ति है, और एक ज्ञेयशक्ति – प्रमेयशक्ति भी है, इसके द्रव्य-गुण-पर्याय में ज्ञान के समान ज्ञेयशक्ति का – प्रमेयशक्ति का व्यापकपना है। इसलिये जो प्रमेय – ज्ञेय पर्याय है वह भी मैं, ज्ञान भी मैं और अनन्त शक्ति का धाम ज्ञाता भी मैं हूँ।

अहो! बहुत सरस बात है भाई! तुझे पर के सामने कहीं देखना ही नहीं है। भगवान सर्वज्ञदेव के सामने भी तुझे नहीं देखना, क्योंकि समवशरण में विराजमान भगवान सर्वज्ञदेव तेरे ज्ञेय हैं और तू ज्ञायक है – ऐसा नहीं है। भगवान सम्बन्धी या उनकी वाणी सम्बन्धी तुझे जो ज्ञान पर्याय में हुआ है, उस ज्ञेय को ही (ज्ञानदशा को) तू जानता है। इसलिए ज्ञेय भी तू स्वयं, ज्ञान भी तू स्वयं और अनन्त गुणधाम ज्ञाता भी तू स्वयं ही है। अरे! तू बाहर में भटक रहा है, तुझे कहाँ जाना है प्रभु? आता है न –

"भटके द्वार-द्वार लोकन के, कूकर आश धरी।"

दश बजे भोजन का समय हो, दाल-भात-शाक की गंध आती है, तब वहाँ कुत्ता आकर खड़ा रहता है; अभी कुछ मिलेगा ऐसी आशा धरकर बिचारा घर-घर भटकता है। इसप्रकार मेरी ज्ञान की पर्याय किसी पर में से – निमित्त में से आएगी ऐसा अभिप्राय करके यह अज्ञानी पामर बनकर जहाँ-तहाँ भटकता है। पर भाई पर-पदार्थ में से तेरा ज्ञान आए, यह बात तो दूर रहो, पर-पदार्थ तेरा ज्ञेय बने – ऐसा भी नहीं है, क्योंकि ज्ञेय-ज्ञान और ज्ञाता तू ही है। इसलिए पर की आश छोड़ दे। आनन्दघनजी ने कहा है –

"आशा औरन की क्या कीजै, ज्ञान-सुधा-रस पीजै।"

अहा ! परकी आशा छोड़कर, पर का लक्ष्य छोड़कर अन्तर के लक्ष्य से ज्ञानरूपी सुधारस पी न प्रभु !

अज्ञानी कहता है – मेरा गुरु है, मेरा भगवान है, मेरा मन्दिर है, परन्तु भाई ! ये तो सब प्रत्यक्ष भिन्न वस्तुएँ तेरी कहाँ से हों ? ये सब तेरे हैं, तेरा भला करनेवाले हैं, ये बात तो दूर रहो, ये तेरे ज्ञेय हों इनसे तेरा ऐसा भी सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि ज्ञेय भी तू स्वयं है, ज्ञान भी तू स्वयं है और ज्ञाता भी स्वयं ही है। कहते हैं – ज्ञेय भी मैं, ज्ञान भी मैं और ज्ञाता भी मैं – ऐसी चेतना सर्वस्व वस्तु मैं हूँ। यह मारग बहुत सूक्ष्म और गम्भीर है भाई ! यह समझ में नहीं आता, इसलिए लोग क्रियाकाण्ड में फँस जाते हैं, परन्तु ये सब मिथ्याभाव है। भाई ! इससे मिथ्यात्व ही पुष्ट होगा धर्म नहीं। अरे ! लोग कुगुरुओं के द्वारा लुट रहे हैं।

अरे भाई ! तू अपने हित के लिए सत्य का निर्णय कर। जहाँ प्ररूपणा ही बिलकुल विपरीत हो वहाँ मिथ्यात्व है – ऐसी खबर पड़ ही जाती है। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के

परिणाम परज्ञेयरूप से तेरे ज्ञान में ज्ञात होते हैं, कोई उसे धर्म का कारण माने-मनावे,इससे धर्म होगा ऐसी प्ररूपणा करे – यह सब स्थूल मिथ्यात्व है। यह तुझे कठिन लगेगा, पर कहा था न कि व्यवहार का निषेध करते हैं वह तेरा निषेध करने के लिये नहीं करते, क्योंकि तू ऐसा (व्यवहाररूप) है ही नहीं, तो फिर तेरा निषेध कहाँ हुआ प्रभु ? तू ज्ञेय-ज्ञान-ज्ञातास्वरूप आत्मा है न भगवान ! तो इसमें तेरा अनादर कहाँ आया ? उल्टा इसमें तो तेरा स्व का आदर आया है।

अहा ! अपनी पर्याय में जो व्यवहार का (शुभभाव का) ज्ञान है, वह ज्ञेय है और आत्मा ज्ञान है – ऐसा भी जहाँ नहीं है, वहाँ व्यवहार से लाभ होता है – यह बात कहाँ रही ? भगवान ! तू स्वरूप से ऐसा है ही नहीं। राग होवे यह अलग बात है, पर इससे तुझे लाभ होगा – ऐसा वस्तुस्वरूप ही नहीं है।

छहों द्रव्य अनादि से हैं, प्रत्येक द्रव्य सत्‌रूप हैं, असत्‌रूप नहीं।'ब्रह्म सत्यं,जगत् मिथ्या' – ऐसा नहीं है। अपनी शुद्ध एक ज्ञायकवस्तु की अपेक्षा से तो छहों द्रव्य अनादि से सत्–विद्यमान हैं। एक-एक द्रव्य अनन्त गुणों से भरा हुआ स्वयं सिद्ध सत् है। परन्तु यह मेरा ज्ञेय है, यह बात कहना मुझे खटकती है, क्योंकि वह मेरा वास्तविक ज्ञेय नहीं है। जहाँ ऐसा है, वहाँ यह पदार्थ मेरा है और मुझे हितकारी है, यह बात कहाँ रही ? भाई ! ये मेरे हित की बात है। किसी से पूछना नहीं पड़ेगा, अपने को समझ में आ जाए – ऐसी बात है।

यहाँ कहते हैं – एक जानपनेरूप शक्ति, दूसरी जानने योग्य शक्ति और तीसरी अनेक शक्ति से विराजमान वस्तु – ऐसे तीन भेद मेरा स्वरूप मात्र है। मतलब कि ये तीनों स्वरूप में ही हूँ; ज्ञेय भी मैं, ज्ञान भी मैं और ज्ञाता भी मैं हूँ। ये तीनों

स्वरूप में ही हूँ। पर-ज्ञेय में हूँ – ऐसा नहीं है। देव-गुरु-शास्त्र और देव-गुरु-शास्त्र के प्रति श्रद्धा-विनय-भक्ति का जो विकल्प उठता है, वह मैं हूँ – ऐसा नहीं है, क्योंकि ये सब पर-ज्ञेय हैं। प्रभु! अपनी अन्तर की चीज तो देख! क्या चीज है!! वीतराग-वीतराग-वीतराग"। तू मात्र वीतरागविज्ञान स्वरूप है।

प्रश्न – परन्तु देव-गुरु-शास्त्र तो शरणदाता कहे हैं?

उत्तर – हाँ कहे हैं, व्यवहार से कहे हैं, पर निश्चय से ये सर्व बाह्य निमित्त तेरे ज्ञेय भी नहीं हैं। अहा! अनन्त तीर्थङ्कर, अनन्त केवली, अनन्त सिद्ध अनन्त आचार्य-उपाध्याय-साधु तुझे लाभदायक है – ऐसा भी नहीं है। धवल में पाठ आता है न –

णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती अरिहंताणं,
णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती सिद्धाणं,
णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती आइरियाणं,
णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती उवज्झायाणं,
णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती साहूणं।

अहा! पहले जो हो गए और भविष्य में जो होंगे, वे अरिहंतादि भी अभी वन्दन में आ गए। यद्यपि व्यक्तिगतरूप से नहीं आए, पर समूह में सब आ गए। यहाँ कहते हैं कि त्रिकालवर्ती पंचपरमेष्ठी ज्ञेय हैं और तू ज्ञायक है – ऐसा नहीं है। तो कैसा है? कि तत्सम्बन्धी तुझे जो ज्ञान हुआ है, वह ज्ञानपर्याय ही तुझे ज्ञेय हुई है, प्रमेय नामक गुण तेरे में है, इसलिए तेरा ज्ञान उसे प्रमाण करके उस प्रमेय को (तेरी ज्ञान पर्याय को) जानता है। परन्तु पर-द्रव्यरूप प्रमेय को तू जानता है – यह बात सत्यार्थ नहीं है।

अरे! इसे यह समझने की फुरसत कहाँ है? एक तो धन्धे के कारण फुरसत नहीं मिलती और बाकी का समय

पंचेन्द्रियों के भोगों में चला जाता है। कदाचित् फुरसत मिलती है तो क्रियाकाण्ड में अटक जाता है। अरे! पर से अपनी मानप्रतिष्ठा बढ़े इसकी दरकार में इसके लिए सम्पूर्ण वस्तु गायब हो गई है। पर भाई! तुझे यह अवसर मिला है, यदि फुरसत निकालकर यह बात न समझा तो तू कौवे-कुत्ते आदि के भव में तिर्यञ्च योनि में कहीं खो जाएगा।

अहाहा! ज्ञेय-ज्ञान-ज्ञाता ऐसे तीन भेद मेरा स्वरूप मात्र हैं। अर्थात् तीनों रूप एक ही वस्तु मैं हूँ। पर-ज्ञेय के साथ तेरा कुछ सम्बन्ध नहीं है। भाई! तुझे ऐसा निर्णय करना पड़ेगा। यह आखिरी कलश है न! इसलिए यहाँ एकदम अभेद की बात कही है। भाई! यह तो सम्पूर्ण शास्त्र का सार अर्थात् निचोड़ है।

भाई! ये जो अनन्त ज्ञेय हैं, उन्हें जानने की शक्ति तेरी है या ज्ञेय की है? जानने की शक्ति तेरी है, तोइस में पर-ज्ञेय कहाँ आया? अपनी ज्ञान की शक्ति में पर-ज्ञेय का ज्ञान अपने ही कारण से अपना ज्ञेय होकर आया है। अहा! अपना ज्ञान ही अपना ज्ञेय होकर अपने को जानता है तथा अनन्त शक्ति का पिण्ड-ज्ञाता भी वह स्वयं ही है। इसप्रकार तीनों मिलकर वस्तु तो एक ही है। देखो, भाषा ऐसी ली है न कि "ज्ञान-ज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः" अर्थात् तीन भेदस्वरूप वस्तुमात्र मैं हूँ, उसमें ही मेरा सर्वस्व है। ऐसा वस्तुस्वरूप है और यह भगवान की वाणी में आया है।

यहाँ का विरोध करने के लिए कितने ही पण्डित कहते हैं कि जो एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्त्ता न माने वह दिगम्बर जैन नहीं है। पर भगवान! इसमें तो तेरा स्वयं का ही विरोध होता है। भाई! तुझे खबर नहीं, पर इसमें तेरा बड़ा नुकशान है। ऐसे (तत्त्वविरोध के) परिणाम का फल

बहुत बुरा है भाई ! तूने अनन्तकाल से जो घोर दुःख सहे वह ऐसे ही परिणाम का फल है। तू दुःखी हो रहा है, क्या यह अच्छा है ? इसलिए तत्त्वदृष्टि कर।

अज्ञानी कहते हैं कि जो परद्रव्य का कर्त्ता न माने, वह दिगम्बर जैन नहीं। जबकि यहाँ दिगम्बर आचार्य कहते हैं कि जो अपने को परका जाननेवाला भी माने वह दिगम्बर जैन नहीं। बहुत फेर है भाई ! परन्तु मार्ग तो ऐसा है प्रभु ! तू स्वभाव से ही भगवान स्वरूप है, तेरी शक्ति में अन्य की जरूरत नहीं, परन्तु तुझे स्वयं को जानने में तेरी शक्ति की जरूरत है और वह तो तुझमें है ही, अब इसमें विषय और कषाय का रस कहाँ रहा ? विषय-कषाय का भाव तो पर-ज्ञेय है, तुझे इससे कुछ सम्बन्ध नहीं। वह तेरे में तो नहीं, तेरा ज्ञेय भी नहीं।

यहाँ कहते हैं कि मैं "ऐसा ज्ञेयस्वरूप हूँ" कैसा ज्ञेयस्वरूप हूँ कि ज्ञानशक्तिरूप भी में हूँ, ज्ञेय शक्तिरूप भी में हूँ और अनन्त गुणों की ज्ञाताशक्तिरूप भी मैं हूँ – ऐसा मैं ज्ञेयरूप हूँ, परन्तु परज्ञेयरूप मैं नहीं हूँ। अहो ! गजब बात है ! केवली परमात्मा और उनके आढ़तिया दिगम्बर सन्तों के सिवा ऐसी बात कौन करे ? जगत को ठीक पड़े या न पड़े, वस्तुस्थिति तो यही है।

देखो, राजमलजी इसके भावार्थ में क्या कहते हैं ? **"भावार्थ इसप्रकार है कि--मैं अपने स्वरूप को वेद्य-वेदकरूप से जानता हूँ, इसलिए मेरा नाम ज्ञान, यतः मैं आप द्वारा जानने योग्य हूँ, इसलिए मेरा नाम ज्ञेय, यतः ऐसी दो शक्तियों से लेकर अनन्त शक्तिरूप हूं, इसलिए मेरा नाम ज्ञाता। ऐसा नाम भेद है, वस्तु भेद नहीं है।"**

क्या कहा ? वेद्य अर्थात् जाननेलायक और वेदक अर्थात् जाननेवाला मैं ही हूँ, इसलिए मेरा नाम ज्ञान है। अहाहा !

स्वज्ञेय को मैं जानता हूँ, इसलिए मैं ज्ञान हूँ। तथा मैं अपने स्वयं के द्वारा ही जानने योग्य हूँ, इसलिए मैं ज्ञेय हूँ। ऐसी बात है भाई ! शास्त्र में तो मेरा ज्ञान नहीं है, परन्तु शास्त्र मेरा ज्ञेय है, ऐसा भी नहीं है।

प्रश्न – तो शास्त्र बांचना चाहिए या नहीं ?

उत्तर – स्व के लक्ष्य से शास्त्र बांचना, शास्त्र अभ्यास करना – यह बात आती है, परन्तु उस समय जो ज्ञान हुआ, वह शास्त्र का ज्ञान है – ऐसा नहीं है। ज्ञान तो ज्ञान का है, शास्त्र का नहीं, और ज्ञेय भी ज्ञान स्वयं ही है। ऐसी सूक्ष्म बात है।

प्रश्न – पहले ज्ञान की पर्याय में ऐसा ज्ञान नहीं था, परन्तु अब ऐसी वाणी सुनने पर यह ज्ञान हुआ न ?

उत्तर – न, ऐसा नहीं है। वह ज्ञान की पर्याय ही तेरा ज्ञेय है, और उसमें से ही तेरा ज्ञान आया है, परन्तु पर-ज्ञेय में से – वाणी में से ज्ञान नहीं आया। यह बात सूक्ष्म है, परन्तु जन्म-मरण के अन्त का मार्ग तो यही है प्रभु ! तुझे किसके सामने देखना है। यह देव मेरा, गुरु मेरा और शास्त्र मेरा – ऐसा तो वस्तुस्वरूप में नहीं है, पर ये मेरे ज्ञेय है – ऐसा भी वस्तु स्वरूप में नहीं है। किसी को यह बात समझना कठिन लगे, इसलिए वह, यह तो निश्चय है, निश्चय हैं – ऐसे हँसी करके उड़ा दे, परन्तु भाई ! निश्चय अर्थात् सत्य, परम सत्य। समझ में आया ?

मैं अपने द्वारा ज्ञात होने योग्य हूँ, परन्तु परके द्वारा जानने योग्य नहीं हूँ। मेरा द्रव्य-गुण-पर्याय मेरे द्वारा जानने लायक है, इसलिए मैं ही मेरा ज्ञेय हूँ, पर-पदार्थ मेरा ज्ञेय नहीं है। ज्ञान भी मैं, ज्ञेय भी मैं और ज्ञाता भी मैं ही हूँ। यह परमार्थ सत्य है भाई ! कहा न कि "नाम भेद है, वस्तु भेद

नहीं ।" अपना ज्ञेय कोई जुदी चीज है, ज्ञान जुदी चीज है और ज्ञाता जुदी चीज है – ऐसा नहीं है, परन्तु जो ज्ञेय है, वही ज्ञान है, और वही ज्ञाता है । तीनों ही वस्तुपने एक ही हैं । यह तो भाई ! वस्तु की स्वतन्त्रता की परिपूर्णता की पराकाष्ठा है ।

देखो, कोई किसी की निन्दा करे तो वह नाराज होता है, और प्रशंसा करे तो राजी होता है, परन्तु निन्दा तो शब्द-रूप जड़ का परिणाम है और प्रशंसा भी जड़ शब्द की पर्याय है । भाई ! ये निन्दा-प्रशंसा तो तेरी चीज नहीं है । जब ऐसा वस्तुस्वरूप है, तो फिर यह मेरा निंदक है, और यह मेरा प्रशंसक है – यह बात कहाँ रही ? यह मेरी निन्दा करता है और यह प्रशंसा करता है, वास्तव में ऐसा है ही नहीं ।

अब कहते हैं – "**कैसा हूं ज्ञानज्ञेयकल्लोलवल्गन" -- जीव ज्ञायक है, जीव ज्ञेयरूप है, ऐसा जो वचन भेद उससे भेद को प्राप्त होता हूं । भावार्थ इसप्रकार है कि -- वचन का भेद है, वस्तु का भेद नहीं ।'**

देखो, क्या कहा ? स्वयं ज्ञेय, स्वयं ज्ञान और ज्ञाता – ऐसे तीन भेद वचनभेद से हैं, परवस्तु तो स्वयं जैसी है वैसी है, अर्थात् ज्ञेय भी मैं, ज्ञान भी मैं और ज्ञाता भी मैं, ऐसे तीनों मिलकर एक ही वस्तु मैं हूँ, परन्तु वस्तु नहीं । अहा ! स्ववस्तु में परवस्तु तो नहीं, स्ववस्तु में तीन भेद भी नहीं हैं । ऐसा मार्ग, इसने अनन्तकाल में सुना भी नहीं है ।

अहो ! समयसार में आई हुई, यह बात लोकोत्तर – अलौकिक है । देखो, यहाँ तीन बातें हैं –

१. परद्रव्य मेरा है और मैं पर का हूँ – ऐसा तो नहीं है ।

२. परद्रव्य मेरे ज्ञेय है और मैं ज्ञायक हूँ – ऐसे भी नहीं है।

३. मुझमें ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञाता – ऐसे वस्तुभेद भी नहीं है।

मैं ज्ञेय हूँ, मैं ज्ञान हूँ – यदि ऐसा जो भेद उपजे तो राग – विकल्प उत्पन्न होता है, परन्तु वस्तु और वस्तु की दृष्टि में ऐसा भेद नहीं है, सब अभेद एक है।

अहाहा ! पर-पदार्थ मेरे ज्ञेय है और मैं ज्ञायक हूँ, ये तो वस्तु में है ही नहीं, परन्तु वास्तव में जो तीन भेद हैं, वे भी नामभेद है। दृष्टि के विषम में ये तीन भेद हैं ही नहीं। जैसी यह वस्तुस्थिति है, वैसी अज्ञानी के ख्याल में नहीं आती, इसलिए उसकी धारणा से शास्त्र में अलग बात आती है, तो उसमें उसे विरोध भासित होता है। किसी को इससे विरोध हो तो हो, परन्तु यह तेरा ही विरोध है, दूसरे का विरोध दूसरा कौन करे ? दूसरी चीज में तेरा विरोध कहाँ जाता है कि त दूसरे का विरोध करे ?

यहाँ कहते हैं – जीव ही ज्ञेयरूप है, जीव ही ज्ञायक है और जीव ही ज्ञाता है, ऐसे वचनभेद से भेद को पाता हूँ, अर्थात् ये तो कल्लोल अर्थात् वचन का भेद है, परन्तु वस्तु में भेद नहीं है। मैं ही ज्ञेय, मैं ही ज्ञान और मैं ही ज्ञाता – ऐसे वचनभेद से कथनमात्र भेद है, वस्तु तो अभेद ही है। इसप्रकार इस कलश में ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय का अभेद स्वरूप बताया है।

ज्ञान और ज्ञेय का स्वरूप

(समयसारकलश २७१ से सम्बन्धित छन्द)

(सवैया इकतीसा)

कोऊ ग्यानवान कहै ग्यान तौ हमारौ रूप,
ज्ञेय षट दर्व सो हमारौ रूप नाहीं है।
एक नै प्रवांन ऐसै दूजी अब कहूं जैसै,
सरस्वती अक्खर अरथ एक ठाहीं है॥
तैसै ग्याता मेरौ नाम ग्यान चेतना विराम,
ज्ञेयरूप सकति अनन्त मुझ पांही है।
ता कारन वचनके भेद भेद कहै कोऊ,
ग्याता ग्यान ज्ञेयकौ विलास सत्ता मांही है॥४५॥

अर्थ – कोई ज्ञानी कहता है कि ज्ञान मेरा रूप है और ज्ञेय षट् द्रव्य मेरा स्वरूप नहीं है। इसपर श्री गुरु सम्बोधन करते हैं कि एक नय अर्थात् व्यवहार नय से तुम्हारा कहना सत्य है, और दूसरा निश्चयनय में कहता हूँ वह इस प्रकार है कि जैसे विद्या अक्षर और अर्थ एक ही स्थानपर हैं, भिन्न नहीं हैं। उसी प्रकार ज्ञाता आत्मा का नाम है, और ज्ञान[1] चेतना का प्रकार है तथा वह ज्ञान ज्ञेयरूप परिणमन करता है सो ज्ञेयरूप परिणमन करने की अनन्त शक्ति आत्मा में ही है, इसलिये वचन के भेद से भले ही भेद कहो, परन्तु निश्चय से ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय का विलास एक आत्मसत्ता में ही है।॥४५॥

---

१ चेतना दो प्रकार की है–ज्ञानचेतना और दर्शनचेतना।

(चौपाई)

स्वपर प्रकासक सकति हमारी।
तातैं वचन भेद भ्रम भारी॥
ज्ञेय दशा दुविधा परगासी।
निजरूपा पररूपा भासी॥४६।

अर्थ – आत्मा की ज्ञानशक्ति अपना स्वरूप जानती है और अपने सिवाय अन्य पदार्थों को भी जानती है, इससे ज्ञान और ज्ञेय का वचन-भेद मूर्खों को बड़ा भ्रम उत्पन्न करता है। ज्ञेय अवस्था दो प्रकार की है – एक तो स्वज्ञेय और दूसरी परज्ञेय॥४६॥

(दोहा)

निजरूपा आतम सकति, पररूपा पर वस्त।
जिन लखि लीनौं पेंच यह, तिन लखि लियौ समस्त॥४७॥

अर्थ – स्वज्ञेय आत्मा है और परज्ञेय आत्मा के सिवाय जगत् के सब पदार्थ हैं, जिसने यह स्वज्ञेय और परज्ञेय की उलझन समझ ली है – उसने सब कुछ ही जान लिया समझो॥४७॥

– पण्डित बनारसीदास
नाटक समयसार, साध्य-साधक द्वार